शैव मत

डॉ० यदुवंशी
केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रणालय, दिल्ली

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन
पटना-३

प्रथम संस्करण, वि० सं० २०१२, सन् १९५५ ई०

मूल्य ७) : सजिल्द ८)

मुद्रक
तपन प्रेस, मछुआटोली
पटना-४

वक्तव्य

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग के तत्त्वावधान में बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को काम करते पाँच वर्ष बीत गये। इस अवधि में परिषद् की ओर से अँगरेजी-थीसिसों के तीन हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। पहला ग्रन्थ है—डाक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री का 'सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन' और दूसरा है—डाक्टर देवसहाय त्रिवेद का 'प्राङ्मौर्य बिहार'। ये दोनों ही पटना-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत थीसिस थे। यह तीसरा ग्रन्थ (शैव मत) लन्दन-विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत थीसिस का अनुवाद है। इसके अनुवादक हैं—डाक्टर यदुवंशी, जो पहले ऑल-इण्डिया-रेडियो की पटना-शाखा के डाइरेक्टर थे और अब केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रणालय में हैं।

उक्त तीनों थीसिसों के लेखक ही उनके अनुवादक भी हैं। अतः उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। इस ग्रन्थ के अनुवादक ने अपना मूल निबन्ध जिन प्रमाणों के आधार पर लिखा है, उनका संकलन उन्होंने ग्रन्थ के 'परिशिष्ट'-भाग में कर दिया है। आशा है कि आवश्यकता होने पर उद्धरणों से मिलाकर अनुवाद का अंश पढ़ने में अनुसन्धायक सज्जनों को सुविधा होगी। इसी सुविधा के लिए अनुवादक ने प्रत्येक परिशिष्ट के साथ उस अध्याय का भी उल्लेख कर दिया है, जिसमें उद्धृतांशों की सहायता आवश्यक है।

शैव मत भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। उसकी ऐतिहासिक खोज करने में ग्रन्थकार ने प्राच्य और पाश्चात्य प्रमाणों का विश्लेषण एवं तुलनात्मक अध्ययन बड़े परिश्रम से किया है। हिन्दी में अन्य मतों के इतिहास की भी खोज वैज्ञानिक ढंग से की जानी चाहिए। उसके लिए इस ग्रंथ से प्रेरणा मिलने की पूरी संभावना है।

शिव सार्वजनिक देवता माने जाते हैं; क्योंकि वे सदैव सर्वजनसुलभ हैं। जन-साधारण के लिए उनकी उपासना और पूजा भी सुगम है। जनता के देवता पर लिखते समय ग्रन्थकार ने यथासंभव जनता के दृष्टिकोण का ध्यान रखने की चेष्टा की है; पर ऐतिहासिक शोध से जो तथ्य निकला है, उसे भी निस्संकोच प्रकट कर दिया है। अतः मतभेद के स्थलों में विवेकी पाठकों को सहृदयता से काम लेना चाहिए।

विजयादशमी, संवत् २०१२]

शिवपूजन सहाय
परिषद् मंत्री

भूमिका

शैव मत हिन्दूधर्म का एक प्रमुख अंग है और यह अचरज की बात है कि अभी तक शैव मत का पूरा इतिहास नहीं लिखा गया। परन्तु थोड़ा-सा विचार करने पर पता चलता है कि शैव मत के इस इतिहास-सम्बन्धी अभाव के सम्भवतः दो कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि शैव मत का स्वरूप ऐसा पेचीदा है, इसमें इतनी विभिन्न प्रकार की धार्मिक मान्यताएं और रीति-रिवाज सम्मिलित हैं कि जिन्होंने भी उनका अध्ययन किया, वे हतबुद्धि-से होकर रह गये। शैव मत के अन्तर्गत यदि एक ओर शैव सिद्धान्त की गूढ विचारशैली है तो दूसरी ओर कापालिकों के गर्हित कर्म भी हैं—इनके बीच क्या परस्पर सम्बन्ध हो सकता है, इसे बताना बहुत कठिन हो जाता है। दूसरा कारण यह है कि पर्याप्त सामग्री न मिलने के कारण विद्वानों के लिए यह सम्भव न हो सका कि शैव मत की उत्पत्ति और उसके इतिहास का एक ऐसा विवरण दे सकें, जिससे उसके विभिन्न रूपों का सन्तोषजनक समाधान हो जाय।

इन कठिनाइयों के बावजूद कई विद्वानों ने हिन्दू-धर्म पर अपने ग्रन्थ लिखते समय शैव मत की उत्पत्ति और विकास का ऐतिहासिक विवरण देने का प्रयत्न किया है। कुछ अन्य विद्वानों ने शैव धर्म के विशेष रूपों का स्वतन्त्र अध्ययन भी किया है। इसमें यद्यपि उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली है, फिर भी इन प्रयासों से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि शैव मत का कोई विवरण तबतक संतोषजनक नहीं माना जा सकता, जबतक वह शैव मत के जो विभिन्न रूप आज दिखाई देते हैं, उन सबका ठीक-ठीक समाधान और उन सबकी ऐतिहासिक विवेचना इस प्रकार न करे, जिससे शैव मत में उनका उचित स्थान और परस्पर सम्बन्ध पूरी तरह समझ में आ जाय।

इस दिशा में अबतक जो प्रयत्न किये गये हैं, उनका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे शैव मत के तमाम विभिन्न स्वरूपों की उत्पत्ति का ही स्रोत वैदिक धर्म में खोजते हैं। पर्याप्त सामग्री न होने के कारण ऐसा होना अवश्यंभावी था। उदाहरण के लिए, 'रिलिजेंज आफ इंडिया' नामक अपनी पुस्तक में फ्रांसीसी विद्वान् 'बार्थ' ने भगवान शिव के विभिन्न स्वरूपों का समाधान करने का इस प्रकार प्रयत्न किया है कि शिव एक वैदिककालीन देवता थे, जिनकी उपासना अधिकतर जनसाधारण में होती थी, और जिनका भारत के उस विक्षुब्ध जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध था, जो अति प्राचीन काल से इस देश की एक विशेषता रहा है। 'नैचुरल रिलिजेंज आफ इंडिया' नाम की अपनी पुस्तक में अंग्रेज विद्वान् 'लायल' ने भगवान् शिव के दो मुख्य स्वरूपों—एक सौम्य और शुभ, दूसरा भयावह और विध्वंसक—का समाधान इस प्रकार किया है कि प्रारम्भ में भगवान् शिव प्रकृति के सर्जनात्मक और संहारात्मक (द्विविध) रूप के प्रतीक थे। वे लिखते हैं—"भगवान शिव में हम दो आदि-शक्तियों का मेल पाते हैं, एक जीवनदायिनी और दूसरी जीवनहारिणी। इस प्रकार, दार्शनिक दृष्टिकोण से,

इस महान् देवता की कल्पना में उस विचार का सर्वांगीण मूर्तिमान् रूप दृष्टिगोचर होता है जिसको मैं प्राकृतिक धर्म का मूल मानता हूँ"।

श्री सी० वी० एन० अय्यर ने 'ओरिजिन एंड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इंडिया' नाम की पुस्तक में, जो शैव मत पर लिखे गये इने-गिने स्वतंत्र ग्रन्थों में से एक है, इसी प्रकार का; परन्तु अधिक विस्तृत प्रयास किया है, और पौराणिक शैव मत के विभिन्न रूपों का विकास वैदिक रुद्र की उपासना से ही माना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने शिव के लिंग-रूप का समाधान इस प्रकार किया है कि यह इस महान् देवता का प्रतीक है, जिसके अनन्त स्वरूप को कोई रूप या आकार देकर सीमित नहीं किया जा सकता। यह एक मनोरंजक, किन्तु अमान्य तर्क है। कुछ दूसरे विद्वानों ने भी ऐसे ही प्रयत्न किये हैं। परन्तु पौराणिक शैव मत के कुछ रूपों के अवैदिक होने का आभास भी कुछ विद्वानों को हुआ है, यद्यपि सामग्री उपलब्ध न होने के कारण वे उन रूपों की उत्पत्ति का ठीक-ठीक पता न लगा सके हैं।

'अन्थ्रोपोलोजिकल रिलिजन' नामक अपने ग्रन्थ में विद्वान 'मैक्समुलर' लिखते हैं— "दुर्गा और शिव की कल्पना में एक अवैदिक भावना स्पष्ट रूप से पाई जाती है जिससे मेरी यह धारणा होती जा रही है कि इसके लिए कोई अन्य स्रोत ढूँढ़ा जाय।...अतः मेरा विश्वास है कि दुर्गा और शिव न तो वैदिक देवता हैं और न उनका विकास किसी वैदिक देवता की कल्पना से हुआ है।"

मैक्समुलर के बाद श्री आर० जी० भंडारक ने भी शैव मत के उत्थान का विवरण देते हुए, यह माना है कि पौराणिक काल में भगवान् शिव का जो स्वरूप है, उसमें आर्येतर अंश सम्मिलित हैं। उन्होंने यह विचार भी प्रकट किया है कि बहुत संभव है, किसी मूल निवासी अन्य जाति के किसी देवता का शिव के साथ समावेश हो गया हो[1]।

अंग्रेज विद्वान् 'कीथ' ने भी अपने 'रिलिजन एंड माइथौलोजी आफ दि वेद' नाम के ग्रन्थ में, और श्री कुमारस्वामी ने अपने 'डांस आफ शिव' नामक ग्रन्थ में, इसी प्रकार के समावेश की ओर संकेत किया है[2]। और, इसमें कोई संदेह भी नहीं है कि शैव मत जिस रूप में आज हमारे सामने है, उसमें अनेकानेक ऐसे अंश समाविष्ट हैं, जिनकी उत्पत्ति विविध स्रोतों से हुई है। स्वयं भगवान् शिव की जिन विभिन्न रूपों में उपासना की जाती है, उनका एक ऐसी देवी के साथ संगम हुआ है, जिसके रूपों की विभिन्नता और भी अधिक है तथा जिसकी समस्त कल्पना अवैदिक और आर्येतर है। और, इससे भी बढ़कर यह कि शैव मत में जो लिंग-पूजा का समावेश हुआ है, उसका कोई चिह्न या संकेत शिव के आदिरूप माने जानेवाले वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं मिलता।

इन सबसे यह बात निश्चयात्मक ढंग से सिद्ध हो जाती है कि आधुनिक शैव मत केवल वैदिक रुद्र की उपासना का विकास मात्र नहीं है, अपितु उसमें

---

१. आ० जी० भंडारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म एंड अदर माइनर रिलिजस आफ इंडिया।

२. कुमारस्वामी : डांस आफ इंडिया।

ऐसे अनेक मतों का संश्लेषण हुआ है, जो प्रारम्भ में स्वतंत्र मत थे, और जिनका प्रचार विविध जातियों में था। उन जातियों के और उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में हमें ठीक-ठीक ज्ञान न होने के कारण ही अभी तक शैव मत के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति और उनके विकास का संतोषजनक विवरण देना संभव नहीं हो सका है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में पुरातात्त्विक और अन्य खोजों से यह कठिनाई दूर हो गई है और अब हमें उन जातियों के और उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में, जो हिन्दुस्तान में आर्यों के पहले बसती थीं, पहले से बहुत अच्छा ज्ञान है। और, प्राचीन जगत् में भारतीय तथा दूसरी सभ्यताओं के बीच जो सम्बन्ध था, उसको भी हम पहले से अच्छी तरह जानते हैं। हो सकता है कि उन अन्य सभ्यताओं का, भारत की अपर वैदिक सभ्यता के विकास पर, काफी प्रभाव पड़ा हो। अतः अब यह सम्भव है कि शैव मत का नये सिरे से फिर निरीक्षण किया जाय और यह देखा जाय कि हमारे ज्ञान के इन नये स्रोतों की सहायता से, जो अब हमको उपलब्ध हैं, हम शैव मत और उसके विभिन्न रूपों की उत्पत्ति तथा उनके विकास का अधिक संतोषजनक विवरण दे सकते हैं या नहीं?

इस थीसीस में यही प्रयत्न किया गया है। वैदिक रुद्र के अध्ययन से प्रारम्भ करके मैंने यह दर्शाने की चेष्टा की है कि अपर वैदिक शैवमत के कुछ प्रमुख अंगों की उत्पत्ति किस प्रकार वैदिक आर्यों से अन्य आर्येतर जातियों के सम्मिश्रण के कारण और इन जातियों की धार्मिक मान्यताओं का वैदिक रुद्र की उपासना में समावेश हो जाने के कारण हुई। इस सम्मिश्रण के बाद जिस नये धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसका विकास उपलब्ध सामग्री की सहायता से, दिखाया गया है। यहाँ तक कि वह धर्म पौराणिक शैव मत के रूप में अपने पूर्ण विकास को पहुँच गया। इसके उपरान्त पौराणिक शैव मत में जो प्रौढ़ता आई और उसमें जो नये परिवर्त्तन हुए, उनका भी अध्ययन किया गया है और तेरहवीं शताब्दी के अंत तक उनका इतिहास लिखा गया है। तेरहवीं शताब्दी में शैव मत ने वह रूप धारण कर लिया था, जिस रूप में हम आज उसे पाते हैं।

अंत में इस निरीक्षण के परिशिष्ट के रूप में भारत से बाहर, विशेषकर हिन्द-चीन और पूर्वी द्वीप-मण्डल में, जिस प्रकार शैव मत फैला और फला-फूला, उसका भी एक संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

—यदुवंशी

शैव मत

प्रथम अध्याय

शैव मत के इस दिग्दर्शन का प्रारम्भ हमें वैदिक-साहित्य से करना उचित प्रतीत होता है। भारत की उपलब्ध साहित्य-सामग्री में वेद प्राचीनतम हैं और इस देश के धार्मिक अथवा भौतिक इतिहास के सम्बन्ध में जो भी छान-बीन की जाती है, वह वेद से ही प्रारम्भ होती है। भारत में यह परम्परा भी दीर्घ काल से रही है कि वेद ही हमारी समस्त मान्यताओं और विचार-धाराओं के उद्गम हैं। इसके अतिरिक्त, यदि किसी प्राचीन देवता को हम पौराणिक शिव का आदि रूप मान सकते हैं, तो वह वैदिक देवता रुद्र ही हो सकता है। इसलिए यही समीचीन है कि हम इस खोज का सूत्रपात वेदों में ही करें और वैदिक रुद्र तथा उसकी उपासना के स्वरूप का अध्ययन करें।

ऋग्वेद में रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता हैं। उनकी स्तुति में केवल तीन पूर्ण सूक्त कहे गये हैं[1]। इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त में पहले छः मन्त्र रुद्र की स्तुति में हैं और अन्तिम तीन सोम की स्तुति में[2]। एक और सूक्त में रुद्र और सोम का साथ-साथ स्तवन किया गया है[3]। वैसे अन्य देवताओं की स्तुति में जो सूक्त कहे गये हैं, उनमें भी प्रायः रुद्र का उल्लेख मिलता है। इन सूक्तों में रुद्र का जो स्वरूप हमें दिखाई देता है, उसके कितने पहलू हैं और वे किसके प्रतीक हैं, इस विषय को लेकर बहुत-से अनुमान लगाये गये हैं। उनके नाम का शाब्दिक अर्थ, मरुतों के साथ उनका संगमन, उनका बभ्रु वर्ण और सामान्यतः उनका क्रूर स्वरूप—इन सबको देखते हुए कुछ विद्वानों ने यह धारणा बनाई है कि रुद्र झंझावात के प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए जर्मन विद्वान् 'वेबर' ने रुद्र के नाम पर जोर देते हुए यह अनुमान लगाया कि रुद्र झंझावात के 'रव' का प्रतीक है[4]। 'डाक्टर मेकडौनल' ने रुद्र और अग्नि के साम्य को पहचानते हुए यह विचार प्रकट किया कि रुद्र विशुद्ध झंझावात का नहीं, अपितु विनाशकारी विद्युत् के रूप में झंझावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक हैं[5]। 'श्री भंडारकर' ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियों का ही प्रतीक मात्र माना है[6]। अँग्रेज विद्वान 'म्यूरह' की भी यही राय है[7]। उधर रुद्र और अग्नि के साम्य के कारण कुछ अन्य विद्वानों ने रुद्र को अग्नि के ही किसी-

---

१. ऋग्वेद : १, ११४; २, ३३; ७, ४६।

२. ,, : १, ४३।

३. ,, : ६, ७४।

४. वेबर : इण्डीशे स्टूडीन, २, १९—२२।

५. मेकडौनल : वैदिक माइथोलौजी, पृ० ७८।

६. भण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म।

७. म्यूर : ४ ओरिजनल संस्कृत टेक्स्ट्स ४, पृ० १४७।

न-किसी रूप का प्रतीक माना है। ऋग्वेद के अपने अनुवाद की भूमिका में अंग्रेज विद्वान् 'विल्सन' ने रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही एक रूप माना है[१]। प्रोफेसर 'कीथ' ने रुद्र को झंझावात के विनाशकारी ही रूप का प्रतीक माना है, उसके हितकारी रूप का नहीं[२]। इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक बाणों का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानों ने उनको मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन में उन्होंने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमें रुद्र का केशियों के साथ उल्लेख किया गया है।

इसी आधार पर विद्वान् 'श्रोडर' ने रुद्र को पवन के साथ उड़ती हुई मृत आत्माओं का सरदार माना है। जर्मन विद्वान् 'आर्बमन्न' ने भी इन सब बातों को देखते हुए और उत्तरकालीन वैदिक धर्म में रुद्र की उपासना से सम्बन्धित कुछ रीतियों पर विचार करते हुए रुद्र को एक प्राचीन मानवभक्षी असुर का, ब्राह्मणों-द्वारा परिष्कृत, रूप कहा है।

रुद्र के स्वरूप को समझने के इन सब प्रयासों में एक ही दोष है और वह यह कि वे रुद्र के सम्पूर्ण स्वरूप को संतोषजनक ढंग से समाधान नहीं करते। वैदिक रूप के स्वरूप की समस्या अभी तक सुलझी नहीं है; परन्तु इसको सुलझाये बिना पौराणिक शिव का स्वरूप हम नहीं समझ सकते। वास्तव में कठिनाई यह है कि रुद्र के स्वरूप में कई बातें ऐसी हैं जो देखने में परस्पर विरोधी हैं और इसके फलस्वरूप हुआ यह है कि रुद्र के स्वरूप के किसी एक अंग पर अधिक जोर दिया गया है और बाकियों की उपेक्षा की गई है। उदाहरण के लिए अगर रुद्र, भयावह हैं तो उसके साथ-साथ सौम्य भी हैं। कभी वे उग्र रूप धारण करते हैं और मनुष्यों और पशुओं का संहार करते हैं। परन्तु कभी वे कल्याण-कारी हो जाते हैं और उनकी शक्ति जीवनदायिनी बन जाती है, जिससे लोग संतान और समृद्धि के लिए रुद्र से प्रार्थना करते हैं। उनका वर्ण प्रायः बभ्रु बताया जाता है; परन्तु कभी-कभी वे श्वेत और सुनहले वर्ण के भी कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त रुद्र को भिषजों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है, जिसके पास ठण्डी और रोगनाशक ओषधियाँ हैं। वे मरुतों के पिता भी हैं। कुछ मन्त्रों में उनका अग्नि के साथ तादात्म्य प्रतीत होता है और एक मंत्र में उनको 'केशियक' के साथ आमोद-प्रमोद करते हुए बताया गया है। रुद्र के स्वरूप की कोई भी व्याख्या संतोषजनक नहीं हो सकती जबतक वह इन तमाम पहलुओं का समाधान न करे और यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक देव-कथाओं में झंझावात के देवता 'पर्जन्य' और मृत्यु के देवता 'यम' की चर्चा पाई जाती है। अतः यह बहुत संभव है कि रुद्र का आदि-स्वरूप इन दोनों देवताओं से भिन्न हो।

रुद्र के स्वरूप के सांगोपांग समुचित अध्ययन से, और ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र की उन विशेष उपाधियों के विश्लेषण से, ऐसा जान पड़ता है कि वास्तव में रुद्र को जिस प्राकृतिक तत्त्व का प्रतीक माना जा सकता है, वह है घने बादलों में चमकती हुई विद्युत्

---

१. विलसन : ऋग्वेद।

२. कीथ : रिलिजन एण्ड माइथोलौजी ऑफ दि ऋग्वेद, पृ० १४७।

और उसके साथ-साथ होनेवाला घनघोर गर्जन और वर्षा। इसकी पुष्टि में जो प्रमाण हमको मिलते हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

रुद्र की गणना मध्यम लोक—अर्थात् आकाश के देवताओं में की गई है। अतः यथासंभव वे आकाश के ही किसी तत्त्व का प्रतीक रहे होंगे।

रुद्र का वर्ण कभी बभ्रु, कभी श्वेत और कभी सुनहला बताया जाता है। मेघों में चमकती हुई विद्युत् के यह सब वर्ण होते ही हैं, और बिजली कौंधने के अनन्तर जो गर्जन होता है, वही रुद्र का रव है और इसी से इनका नाम रुद्र पड़ा भी है—[रु धातु, गर्जन अर्थ में।]

रुद्र का विशेष अस्त्र उनका धनुष है, और इस धनुष से जो बाण वे छोड़ते हैं, वह मनुष्य और पशु दोनों का संहार करता है[१]। यह बाण ज्वलन्त प्रतीक हैं—उस कड़कती हुई बिजली का, जिसके प्रहार से किसी के प्राण बच नहीं सकते। हिमालय की उपत्यकाओं में, जहाँ ऋग्वेदीय आर्य लोग बसते थे, यह बिजली विशेष रूप से घातक और भयावह होती है। अतः इसी से रुद्र के क्रूर और अहितकारी रूप का समाधान हो जाता है और रुद्र की 'गोघ्न', 'नृघ्न' और 'क्षयद्वीर' उपाधियाँ सार्थक हो जाती हैं[२]।

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' भी है,[३] जिसका अर्थ है 'जटाजूटधारी'। आकाश में उमड़ कर आई हुई मटियाले रंग की मेघमाला वास्तव में जटाओं जैसी लगती है, और उनमें जब बिजली चमकती है, तब रुद्र की यह 'कपर्दिन्' उपाधि भी सार्थक हो जाती है। यह उपाधि तृत्सुओं को भी दी गई है जो आर्यों का एक वंश था और उसके वंशज जटाधारी थे। इसी उपाधि से 'पूषन्' देवता को भी विभूषित किया गया है, जहाँ यह सूर्य के प्रभा-मंडल (halo) का प्रतीक है।

रुद्र की एक और उपाधि है—'दिवो वराह',[४] अर्थात् आकाश का वराह। काले मेघों से निकलती हुई श्वेत विद्युत् की उपमा बड़ी सुगमता से श्वेत दंष्ट्रावाले काले वराह से दी जा सकती है।

अन्त में रुद्र की एक अन्य उपाधि 'कल्पलीकिन्'[५]—(जलने या दहकने वाला) की सार्थकता भी विद्युत् अथवा अग्नि में ही पूरी होती है।

अपने सौम्य रूप में रुद्र को 'महा भिषक्' भी कहा गया है, जिसकी ओषधियाँ ठंढी और व्याधिनाशक होती हैं। रुद्र के स्वरूप के इस पहलू का समाधान संभवत इस प्रकार हो सकता है कि वर्षा ऋतु में, रुद्र अत्यधिक शक्तिशाली होते हैं, ओषधियों की खूब उपज होती है, विद्युत् और वर्षा से वायुमंडल स्वच्छ हो जाता है और जन्तु तथा वनस्पति-वर्ग में एक नये जीवन का संचार होता है।

---

१. ऋग्वेद : २, ३३, १०; ७, ४६, १ इत्यादि।
२. ,, : १, ११४, १०; २, ३३, ११; ४, ३, ६।
३. ,, : १, ११४, १ और ५।
४. ,, : १, ११४, ५।
५. ,, : २, ३३, ८।

इसी रूप में रुद्र का संबन्ध उर्वरता और पेड़-पौधों से भी है, और सन्तान के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है[१]। उत्तरी भारत में मानसून काल में बिजली कड़कने के बाद जो वर्षा होती है, उससे धान्य, ओषधियों और अन्य पेड़-पौधों की प्रचुर उपज होती है और इसी वर्षाऋतु में अधिकतर जन्तु वर्गों की भी संतान वृद्धि होती है। अतः रुद्र का उर्वरता से संबन्ध होना स्वाभाविक ही है। इस प्रसंग में रुद्र की 'वृषभ' उपाधि अर्थपूर्ण है[२]। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'बैल' या 'साँढ़' किया जाता है, और निःसंदेह आजकल संस्कृत में इसका यही अर्थ है। परन्तु ऋग्वेद में जिन-जिन प्रसंगों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, उनको देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय इसका अधिक शाब्दिक अर्थ लिया जाता था। 'वृष्' धातु से बने इस शब्द के दो अर्थ होते थे। एक तो 'वर्षा करनेवाला' (इसी कारण सायण ने इसकी व्याख्या 'वर्षयिता' शब्द से की है) और दूसरा 'अत्यधिक प्रजनन-शक्ति रखनेवाला', अतः पुरुषत्वपूर्ण या बलिष्ठ। इन दोनों ही अर्थों में यह शब्द रुद्र के लिए उपयुक्त है। पहले अर्थ में इसका संकेत उस वर्षा की ओर है जो रुद्र कराते हैं और दूसरे अर्थ में उस उर्वरता की ओर है, जो रुद्र के द्वारा ही संभव होती है। इस दूसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग बैल के लिए भी हुआ, जो अपने बल और प्रजनन-शक्ति के लिए विख्यात है और धीरे-धीरे यह शब्द उसका एक साधारण नाम ही बन गया।

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[३]। वैसे तो इसका कोई विशेष अर्थ न होता; क्योंकि दो देवताओं का एक साथ आह्वान ऋग्वेद में कोई असाधारण बात नहीं है। सोम का इन्द्र, अग्नि और पूषा के साथ भी आह्वान किया गया है। परन्तु एक दूसरे सूक्त में कुछ मन्त्र रुद्र का स्तवन करते हैं और कुछ सोम का[४]। कुछ अन्य स्थलों पर सोम का विद्युत् के साथ सम्बन्ध है और उत्तरकालीन वैदिक-साहित्य में संतान-प्राप्ति के लिए एक सौमारौद्र हवि का विधान भी है। इन सब बातों से ऐसा जान पड़ता है कि रुद्र और सोम के बीच अधिक गहरा संबंध है, और यदि हम रुद्र के स्वरूप का, उपरिलिखित समाधान मान लें तो इस सम्बन्ध को समझने में हमें और भी सुविधा होती है। जैसे—रुद्र स्वास्थ्य और बल प्रदान करते हैं, उसी प्रकार सोम-रस भी एक स्फूर्तिदायक ओषधि है और सोम और रुद्र दोनों से ही यह प्रार्थना की जाती है कि वे अपने भक्तों को बल और भिषज दें[५]। इसके अतिरिक्त सोमलता की प्रचुर वृद्धि भी रुद्र के कारण ही होती है, और फिर रुद्र के वर्ण के समान ही सोम-रस का वर्ण भी बभ्रु अथवा सुनहला होता है। काष्ठ-भांडों में सोमरस के गिरने के शब्द की 'बरसती वर्षा' से उपमा दी गई है, और चूँकि पार्थिव वर्षा कवि की कल्पना को, सहज में ही आकाश में गरजते हुए बादलों तक पहुँचा

१. ऋग्वेद : १, १४३, ६; २, ३३ और ७।
२. ,, : २, ३३, ६ क ८।
३. ,, : ६, ७४।
४. ,, : १, ४३।
५. ,, : ६, ७४, १ और ३।

देती है, अतः यह उपमा भी शीघ्र ही अतिशयोक्ति में बदल जाती है और रुद्र के समान ही सोम के भी गर्जन और रवण का उल्लेख होता है[1]। सोम के इस गर्जन और रवण के कारण ही सम्भवतः उसको एक स्थान पर वृषभ की उपाधि भी दे दी गई है[2]।

रुद्र के स्वरूप की जो व्याख्या ऊपर की गई है, उसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि ऋग्वेदीय सूक्तों में रुद्र का अग्नि से गहरा सम्बन्ध है। अग्नि को अनेक बार रुद्र कहा गया है[3]। यह ठीक है कि अग्नि को रुद्र मात्र कहने का ही कोई विशेष अर्थ नहीं है; क्योंकि ये सब केवल उपाधि के रूप में भी किया जा सकता है जिसका अर्थ है—क्रूर अथवा गर्जन करनेवाला, और इसी अर्थ में इस उपाधि का इन्द्र और अन्य देवताओं के लिए भी प्रयोग किया गया है। परन्तु एक स्थल पर रुद्र को 'मेधापति' की उपाधि दी गई है[4]। इससे रुद्र और अग्नि का तादात्म्य झलकता है। यदि हम रुद्र को विद्युत् का प्रतीक मानें, जो वास्तव में अग्नि ही है, तो इस तादात्म्य को आसानी से समझा जा सकता है। उत्तर-कालीन वैदिक-साहित्य में इस तादात्म्य को स्पष्ट रूप से माना गया है और फलस्वरूप 'सायणाचार्य' ने निरन्तर दोनों को एक ही माना है। रुद्र और अग्नि के इस तादात्म्य को ध्यान में रखते हुए हम शायद रुद्र की 'द्विबर्हा' जैसी उपाधियों का भी समाधान अधिक अच्छी तरह कर सकते हैं। इस शब्द का अनुवाद साधारणतया 'दुगुने बल का' अथवा 'दुगुना बलशाली' किया जाता है। परन्तु इसका अधिक स्वाभाविक और उचित अर्थ वही प्रतीत होता है जो 'सायण' ने किया है। अर्थात्—

द्वयोः स्थानयोः पृथिव्याम् अन्तरिक्षे परिवृढः[5]

ये अर्थ विद्युत् पर पूरी तरह लागू होता है; क्योंकि विद्युत् ही जब पृथ्वी पर आती है, तब अग्नि का रूप धारण कर लेती है। अथवा 'बर्हा' शब्द का अर्थ यहाँ कलँगी से है जैसा कि बर्ही (अर्थात् मोर) में, द्विबर्हा का अर्थ हो सकता है—दो कलँगीवाला। इस अर्थ में इस शब्द का संकेत दुकांटी विद्युत् की ओर होगा।

इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम भागों में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य नहीं है; बल्कि उनमें स्पष्ट भेद किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि विद्युत् के प्रतीक रुद्र और पार्थिव वह्नि के प्रतीक अग्नि का तादात्म्य वैदिक ऋषियों को धीरे-धीरे ही ज्ञात हुआ था; किन्तु एक समय ऐसा भी था जब इन दोनों को अलग-अलग तत्त्व माना जाता था।

रुद्र=अग्नि, इस साम्य को एक बार मान लेने पर, इसकी बड़ी सुगमता से रुद्र=अग्नि-सूर्य तक बढ़ाया जा सकता है, और कुछ ऋग्वेदीय सूक्तों से ही प्रतीत होता है कि उस समय भी रुद्र और सूर्य के इस तादात्म्य को ऋषियों ने पहचान लिया था। इससे हमें

---

१. ऋग्वेद : ६, ८६, ६; ६, ६१, ३; ६, ६५, ४ इत्यादि।
२. ,, : ६, ७, ३।
३. ,, : २, १, ६; ३, २, ५।
४. ,, : १, ४३, ४।
५. ,, : १, ११४, ६ पर सायण की टीका।

इस बात का समाधान करने में सहायता मिलती है कि रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है, जिनको उसने 'पृश्नी' (पृथ्वी) से उत्पन्न किया।

कुछ ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में मरुतों की कल्पना, प्रकाश से सम्बद्ध, रक्षकगणों के रूप में की गई थी, जो सब युगों में साधुजनों का संरक्षण करते हैं[1]। यह कल्पना इन्डो-यूरोपियन-काल की है; क्योंकि मरुतों और आवेस्ता के फ्रवशियों में और ग्रीक और रोमन 'जीनियाई' में बहुत समानता है। इन ग्रीक और रोमन 'जिनियाई' की कल्पना, सर्पधारी नवयुवकों के रूप में अथवा केवल सर्पों के रूप में की जाती थी। मरुतों को भी 'मर्यः' (मनुष्य), 'अहिभानु', 'अहिसुष्म', 'अहिमन्यु' आदि कहा गया है,[2] जो सब-की-सब बड़ी अर्थपूर्ण उपाधियाँ हैं। कुछ ग्रीक भी जिनको 'Trito Patoras' (संस्कृत में 'तृतपितरः) कहते हैं, हमें मरुतों का स्मरण कराते हैं; क्योंकि 'तृत' भी एक वैदिक देवता है और कभी-कभी मरुतों के साथ ही उसका उल्लेख होता है। धीरे-धीरे मरुतों के स्वरूप में विकास और परिवर्तन होता रहा, जिसके फलस्वरूप उन्हें इन्द्र जैसे एक महान् देवता का परिचारक देवता समझा जाने लगा—जैसे ईरान में फ्रवशी 'अहुरमज्दा' के परिचर, देवता बन गये थे। इन्द्र यदि किसी प्राकृतिक शक्ति का प्रतीक है तो वह है झंझावात का जो दीर्घकाल तक सूखा मौसम रहने के बाद पावस की जवानी में चलता है, जिसके साथ बादलों की गरज, बिजली की चमक और मूसलधार वर्षा होती है तथा जिसके समाप्त होने पर सूर्य अपने समस्त तेज के साथ गगन-पटल पर फिर निकल आता है। चूंकि ऐसे झंझावात में हवा का झोंका उग्र रहता है, जो अपने साथ मेघों को उड़ाये लिये चलता है तथा अन्य कई प्रकार से भी झंझावात की सहायता करता हुआ प्रतीत होता है, अतः मरुतों का ऐसी हवाओं के साथ अधिकाधिक सम्बन्ध होता गया, और यहाँ तक कि दोनों का तादात्म्य हो गया। ऋग्वेदीय काल तक यह तादात्म्य हो चुका था। ऋग्वेद में मरुतों की कल्पना स्पष्ट रूप से पवन देवताओं के रूप में की गई है और अब उनको पवन देव 'वायु' की संतान माना जाता है, जो स्वाभाविक है। परन्तु बाद में, जब हवाओं की उत्पत्ति का ठीक-ठीक ज्ञान ऋषियों को हुआ, तब मरुत, जो पृथिवी से उत्पन्न किये गये थे, रुद्र के पुत्र कहलाने लगे; क्योंकि श्री जी० राव ने सुझाया है कि पृथिवी पर सूर्य की किरणों का ताप लगने से ही हवाओं की उत्पत्ति होती है। मरुतों का एक अन्य नाम 'सिन्धु-मातरः' संभवतः उनके और वर्षा के सम्बन्ध की ओर संकेत करता है।

रुद्र के स्वरूप का एक और पहलू शेष रहता है और वह किंचित् रहस्यमय है। ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ 'विष' पान किया[3]। इस सूक्त की कठिनाई यह है कि इसमें यह स्पष्ट नहीं होता कि हम इसे एक लक्षणा मान सकें या नहीं। सायणाचार्य ने इसको लाक्षणिक रूप में लिया है, और केशी का अर्थ जिसके 'केश' अर्थात् किरणें हों—यानी 'सूर्य' किया है। इसमें उन्होंने 'यास्क' का अनु-

---

१. डा० बार्नेट : जीनियस : ए स्टडी इन इन्डो यूरोपियन साइकोलौजी; Jras. १९२९; पृ० ७३१।
२. ऋग्वेद : १, १७२, १; १,६४, ८ और ९; ५,३३,५; ५,६१,४; ५,५३,३; १०,७७, २ व ३।
३. ऋग्वेद : १०, १३६।

करण किया है। उन्होंने भी 'केश' का अर्थ किरणें करके, 'केशी' को सूर्य का द्योतक माना है[1]। ऋग्वेद के अन्य सूक्त में तीन केशियों का उल्लेख किया गया है, और वहाँ वे क्रम से अग्नि, सूर्य और वायु के प्रतीक जान पड़ते हैं[2]। कम-से-कम यास्क ने उनकी व्याख्या इसी प्रकार की है[3]।

विष शब्द का अर्थ भी सदा जहर ही नहीं होता। प्रायः यह 'उदक' (जल) का पर्यायवाची भी होता है, और इस प्रसंग में संभवतः इसका संकेत जीवन के स्रोत रूपी पंच महाभूतों में जल की ओर है। इस सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा भी गया है कि केशी इस 'विष' को इसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को। अतः यदि हम केशी को सूर्य का प्रतीक मानें, तो विद्युत्-शक्ति रूपी रुद्र का सूर्य-रूपी केशी से सम्बन्ध समझ में आ जाता है।

परन्तु केशी का इस प्रकार लाक्षणिक अर्थ करने पर भी केशी को लेकर जो रूपक बाँधा गया है, उसको समझना शेष रह जाता है। सूर्य को केशी क्यों कहा गया है? क्योंकि केशी का शाब्दिक अर्थ तो 'जटाधारी' होता है। इसके अतिरिक्त, इस सूक्त के तीसरे और उसके बाद के मंत्रों में केशी की तुलना मुनियों से की गई है। इन मुनियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि अपने 'मौन्य' अथवा 'मुनित्व' के आवेश से उन्मत्त होकर वे अपने अंतः स्वत्व को पवन के अन्दर विलीन कर देते हैं और इसी पवन में वे विहार करते हैं। सांसारिक मर्त्य जनों को जो दिखाई देता है, वह तो केवल उनका पार्थिव शरीर होता है।

ऋग्वेद में 'मुनि' शब्द का अर्थ उत्तेजित, अभिप्रेरित अथवा उन्मत्त होता है। यह भी निश्चित है कि यह शब्द 'इण्डो-यूरोपियन' मूल का नहीं है। संस्कृत के वैयाकरणों ने इसका उल्लेख उणादि सूत्रों के अन्तर्गत किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत व्याकरण के साधारण नियमों के अनुसार नहीं की जा सकती थी। इन सूत्रों में इसको 'मन' धातु से बना बताया गया है, जिससे इसके 'उकार' का समाधान नहीं होता। उधर कन्नड़ भाषा में यह शब्द सामान्यतः पाया जाता है, और वहाँ इसका अर्थ है—जो क्रुद्ध हो जाय। यह अर्थ इस शब्द के ऋग्वेदीय अर्थ के बहुत समीप है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द तत्कालीन किसी ऐसे आर्येतर जाति की भाषा से लिया गया, जिसके संपर्क में उस समय ऋग्वेदीय आर्य लोग आये। ऋग्वेद के एक मंत्र में उड़ते जाते हुए मरुतों के बल की उपमा मुनियों से दी गई है[4]। एक और मंत्र में, सोमरस पान के अनन्तर

---

१. निरुक्त : १२, १२, २५, २६। केशी केशा रश्मयः। तैस्तद्वान् भवति (प्रकाशनाद्वा····केशीदम् ज्योतिरुच्यत इत्यादित्यम् आह)।

२. ऋग्वेद : १, १६४, ४४।

३. निरुक्त : १२, १२, २७। "त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते····काले कालेऽभिविपश्यन्ति। संवत्सरे वपत एक एषाम् इत्यग्निः, पृथिवीं दहति। सर्वमेकोऽभिविपश्यति कर्मभिरादित्यः। गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य"।

४. ऋग्वेद : ६, ५६, ८।

सुरूर में आये हुए इन्द्र को मुनियों का सहचर कहा गया है[1]। इन सब प्रकरणों से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि संभवतः 'मुनि', तपस्वियों के एक वर्गविशेष थे, जो निश्चित रूप से आर्य जाति के नहीं थे। उनके स्वभाव में कुछ सनक-सी थी। उनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता था कि अपनी तपस्या के बल से उन्होंने मानवोत्तर शक्तियाँ प्राप्त कर ली हैं। वे बहुधा सुरापान करते थे और सुरा के मद में अपनी इन शक्तियों की डींग हाँका करते थे। अतः इन्द्र भी जब इसी प्रकार मदमत्त होकर अपने बल का बखान करते हैं, तब उनको मुनियों का सहचर कहना उपयुक्त ही है। और जब 'केशियों' की भी इन्हीं मुनियों से तुलना की गई है, तब हो सकता है कि जटाएँ रखनेवाला तपस्वियों का एक ऐसा वर्गविशेष था जो मुनियों के समान ही, मानवोत्तर शक्तियाँ रखने का दावा करता था। उपलब्ध सामग्री के आधार पर हम इससे अधिक कुछ और नहीं कह सकते।

उत्तरकालीन वैदिक साहित्य में केशियों के एक कबीले का उल्लेख मिलता है। 'काठक-संहिता' में इनकी चर्चा की गई है, और एक केशी 'दाल्भ्य' का उल्लेख भी हुआ है जो संभवत उनका राजा अथवा पुरोहित था। पांचालों से जिस प्रकार उनका नाता जोड़ा गया है, उससे शायद यह पता चलता है कि वे पांचालों की ही एक शाखा थे[2]। 'मैत्रायणी-संहिता' में केशी 'सत्यकामी' का उल्लेख है, जो केशी दाल्भ्यक का गुरु प्रतीत होता है[3]। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी केशियों का उल्लेख किया गया है[4]। परन्तु इन ऐतिहासिक केशियों का ऋग्वेदीय केशियों के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह कहना असंभव है।

काले मेघों में निकलती हुई विद्युत् के पुरुषीकरण से ही रुद्र की कल्पना की गई है, यह तथ्य अथर्ववेद के मंत्रों से और भी स्पष्ट हो जाता है। अथर्ववेद में रुद्र को तीन बार 'नील शिखण्डिन्' (नीलवर्ण या गहरे रंग के केशवाला), कहा गया है[5]। यह उपाधि घने काले बादलों में से (जिनकी उपमा ऋग्वेद में भी 'कपर्दिन्' उपाधि में मेघों से दी गई है) निकलती हुई विद्युत् के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में रुद्र का विद्युत् द्वारा मर्त्यजनों पर प्रहार करने का भी उल्लेख है[6]। एक मंत्र में रुद्र के रथ को काला और भयावह कहा गया है, जिसे रक्तवर्ण के घोड़े खींचते हैं[7]। यह वर्णन भी काले मेघ पर ही पूरा उतरता है।

रुद्र के विनाशकारी रूप पर अथर्ववेद में कुछ अधिक जोर दिया गया है। उसका शर विषधर होता है और उससे व्याधियाँ फैलती हैं। प्राणिमात्र को उससे डर लगता है[8]।

---

१. ऋग्वेद : ७, १७, १४।
२. काठक-संहिता : (श्रोउर का संस्करण) ३०, २।
३. मैत्रायणी-संहिता : १, ६, ५।
४. शतपथ-ब्राह्मण : ११, ८, ४।
५. अथर्ववेद : २, २७, ६; ६, १३, १; ११, २, ७।
६. ,, : ११, २, १६; ११, २, २६ इत्यादि।
७. ,, : ११, २, १८।
८. ,, : ६, ९०, १ इत्यादि।

अतः रुद्र से सतत यही प्रार्थना की जाती है कि वह अपने शर को स्तुतिकर्त्ता की ओर से हटाये रखें, और उसका प्रहार उसके शत्रुओं पर अथवा कृपण लोगों पर करें[1]। एक मंत्र में रुद्र को 'भीमं राजानम्' (आतंककारी नृपति) और 'उपहन्तु' (विध्वंसक) कहा गया है[2]; क्योंकि खुले खेतों में चरते हुए पशुओं पर बिजली गिरने की अधिक आशंका होती है, अतः पशुओं को उसके संरक्षण में रखकर रुद्र को प्रसन्न किया गया है[3]। इस प्रसंग में रुद्र को पहली बार 'पशुपति' कहा गया है, और उससे पशुवृद्धि तक के लिए प्रार्थना की गई है[4]।

रुद्र के विध्वंसक और हिंसक रूप में ही संभवतः उसके साथ रहनेवाले श्वानों (कुत्तों) की भी कल्पना की गई है, और अथर्ववेद के एक मंत्र में इनका उल्लेख हुआ है[5]। परन्तु ऋग्वेद के उत्तर भागों में श्वानों का साहचर्य यम के साथ है, जिनको मृत्यु का अधिष्ठातृ-देवता माना गया है। परन्तु अथर्ववेद का उपर्युक्त मन्त्र चूंकि ऋग्वेद के उत्तर भागों से प्राचीन जान पड़ता है, अतः यह भी सम्भव है कि आदिकाल में रुद्र को ही मृत्यु देवता भी माना जाता था और इसी रूप में उनसे श्वानों का साहचर्य था; क्योंकि मृतमांस-भक्षी होने के कारण और श्मशान आदि के निकट बहुधा पाये जाने के कारण श्वान मृत्यु के ही प्रतीक हो गये हैं। बाद में जब यमराज को मृत्यु का अधिष्ठातृ-देवता के रूप में माना गया, तब श्वानों का यह साहचर्य, रुद्र से लेकर यम के साथ जोड़ दिया गया। प्राचीन देवकथाओं में इस प्रकार का आदान-प्रदान बहुधा होता रहता है।

अथर्ववेद में रुद्र का पुरुषविध रूप ऋग्वेद से आगे बढ़ गया है, और इस बात तक के चिह्न दिखाई देते हैं कि प्रारम्भ में रुद्र की कल्पना जिस प्राकृतिक तत्त्व को लेकर की गई थी, उसे लोग भूलते जा रहे थे। अब रुद्र के अनुचर गणों की चर्चा होती है, जो सम्भवतः आगे चलकर दश रुद्र कहलाये, और जो वास्तव में और कोई नहीं, वही ऋग्वेद-कालीन मरुत हैं[6]। रुद्र के शर अब प्राणिमात्र का सीधा वध नहीं करते, अपितु व्याधियाँ फैलाते हैं, जिनकी चिकित्सा के लिए विविध मन्त्र और ओषधियाँ बताई गई हैं[7]। भूत-पिशाचादि से रक्षणार्थ भी रुद्र का स्तवन किया जाता है[8]। अथर्ववेद में रुद्र के इस वर्णन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रुद्र वैदिक देवतामण्डल के इन्द्र, अग्नि आदि बड़े-बड़े देवताओं के समान श्रेष्ठ कोटि के देवता न होकर एक ऐसे देवता थे जिनपर जन-साधारण की आस्था थी, जो ऋग्वेद में इतनी स्पष्ट नहीं है। इस बात का आगे चलकर बहुत बड़ा परिणाम हुआ। अथर्ववेद में एक लोकप्रिय देवता के रूप में ही, अपनी प्रत्यक्ष शक्ति के

---

१. अथर्व०: ६, ५६, ३; ७, ७५, १; ११, २, २६ इत्यादि।
२. ,, : १८, १, ४०।
३. ,, : ११, २, १०; १०, २, २४।
४. ,, : २, ३४, १; ५, २४, १२; ११, २, १; ११, ६, ६ इत्यादि।
५. ,, : ११, २, ३०।
६. ,, : ११, २, ३१।
७. ,, : ६, ५७, १; ६, ६०, १।
८. ,, : ६, ३२, २।

कारण और अपने प्रकोप के आतंक के कारण, संभवतः रुद्र को उत्कर्ष हुआ, और अथर्ववेद में उनको 'महादेव' की उपाधि दी गई।[1]

अपने सौम्य रूप में भी रुद्र का पुरुषीकरण और आगे बढ़ गया है। रुद्र की ओषधियाँ तो ठंडी और रोगनाशक होती ही हैं, इसके अतिरिक्त उनका स्वयं भी व्याधिनाश के लिए आह्वान किया जाता है[2]। कुछ मंत्रों में रुद्र को 'सहस्राक्ष' भी कहा गया है[3]। ऋग्वेद में यह उपाधि साधारणतया वरुण को[3] और अथर्ववेद में वरुण के गुप्तचरों को दी जाती है[4]। वरुण 'ऋत' के संरक्षक हैं, और अपने चरों की सहायता से प्राणिमात्र के कर्मों को देखते रहते हैं। अतः रुद्र को यह उपाधि दिया जाना संभवतः इस बात का द्योतक हो सकता है कि रुद्र को भी अब प्राणिमात्र का निरीक्षणकर्ता माना जाने लगा था।

अथर्ववेद में हमें उस प्रक्रिया का प्रारम्भ भी दृष्टिगोचर होता है जिसकी आगे चल कर अनेक बार आवृत्ति हुई और जिसके द्वारा ही अन्त में पौराणिक शिव के स्वरूप का पूर्ण विकास हुआ। यह क्रम है—एक बड़े देवता का अन्य देवताओं को अपने अन्तर्गत कर लेना और उनके व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व में विलीन कर लेना। अथर्ववेद में दो देवताओं (भव और शर्व) का उल्लेख हुआ है। उनका व्यक्तित्व कुछ स्पष्ट नहीं है; परन्तु फिर भी वह स्वतंत्र देवता हैं[5]। परन्तु अथर्ववेद के ही कुछ अन्य मंत्रों में उनका स्पष्ट रूप से रुद्र के साथ तादात्म्य हो गया है और भव और शर्व रुद्र के ही दो नाम बन गये हैं[6]। एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता का आत्मसात् किया जाना कोई असाधारण बात नहीं है और संसार की प्रायः सभी देव-कथाओं में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। अतः यह नितान्त संभव है कि रुद्र ने, जिसका महत्त्व बढ़ रहा था, समय बीतते-बीतते कुछ छोटे-छोटे देवताओं को आत्मसात् कर लिया हो।

अब हम अथर्ववेद में रुद्र के स्वरूप के अंतिम पहलू पर दृष्टि डालते हैं। अथर्ववेद के पन्द्रहवें मंडल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद का यह मंडल वैदिक साहित्य की एक समस्या है जिसका अभीतक समुचित समाधान नहीं हुआ है। देखने में तो इसमें व्रात्य को देवकोटि में रखा गया है। परन्तु यह व्रात्य था कौन, अभीतक रहस्य ही है। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों में कुछ विधियाँ दी गई हैं जिनको 'व्रात्यस्तोम' कहते हैं। इनमें व्रात्यों का आशय उन लोगों से है, जो आर्य जाति के बाहर थे और जिनको इन विधियों द्वारा आर्य जाति में सम्मिलित किया जाता था अथवा वे ऐसे लोग थे जिनके आवश्यक संस्कार उचित समय पर नहीं हुए थे। इन दोनों ही अवस्थाओं में व्रात्य लोग वे होते थे जो वैदिक आर्यों के आचारस्तर तक नहीं पहुँचते थे और इसी कारण उनको

---

१. अथर्व० : ६, ४४, ३; ६, ५७, १; १९, १०, ६।
२. ,, : ११, २, ७।
३. ऋग्वेद : ५, ५०, १० इत्यादि।
४. अथर्व० : ६, १६, ४।
५. ,, : ११, २, १; १२, ४, १७।
६. ,, : ६, ४।

किंचित् निकृष्ट समझा जाता था। परन्तु यदि अथर्ववेद के इस मंडल का व्रात्य वही है, जो इन विधियों का है, तो इस प्रकार उसको इतना ऊँचा क्यों उठया गया, समझ में नहीं आती? उसमें कुछ-न-कुछ गुण अथवा ऐसी विशेषता अवश्य रही होगी, जिससे आर्यों के पुरोहित वर्ग को छोड़कर, अन्य लोगों की दृष्टि में वह श्लाघ्य बन गया। जर्मन विद्वान् डाक्टर 'हौएर' का विचार है[1] कि यह व्रात्यों के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यों को आकर्षित किया, और फिर वैदिक विचार-धारा और धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला। इधर 'श्री एन. एन. घोष' ने अपनी एक रोचक पुस्तक में एक नई दिशा में खोज की है[2] और वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि प्राचीन वैदिक काल में व्रात्य जाति पूर्वी भारत में एक बड़ी राजनीतिक शक्ति थी। उस समय वैदिक आर्य एक नये देश में अपना प्रभुत्व जमाने के लिए लड़ रहे थे, और उनको सैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः, उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से व्रात्यों को अपने दल में मिला लिया। व्रात्यों को भी संभवतः आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणों ने आकृष्ट किया, और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिए तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों से मिल जाने पर आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया। इतना तो मानना ही पड़ेगा कि व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरों में 'पुंश्चली' और 'मागध' का उल्लेख होना (ये दोनों ही पूर्वदेशवासी और आर्येतर जाति के हैं), आर्यों से पहले भी भारतवर्ष में अति विकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाण-स्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि श्री घोष के तर्क की कुछ पुष्टि करते हैं। परन्तु व्रात्य चाहे जो भी रहे हों, प्रश्न हमारे सामने यह है कि अथर्ववेद के इस मंडल में व्रात्य के साथ रुद्र का सम्बन्ध कैसे स्थापित किया गया है? सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि व्रात्य 'महादेव' बन गया, व्रात्य 'ईशान' बन गया। यह दोनों ही रुद्र की उपाधियाँ हैं[3]। तदनन्तर, विभिन्न नामों से रुद्र को व्रात्य का 'अनुष्ठाता' (परिचर) बताया गया है[4]। अन्त में कहा गया है कि जब व्रात्य पशुओं की ओर चला, तब उसने रुद्र का रूप धारण किया और 'ओषधियों को अन्नसेवी बनाया'[5]। इस सूक्त में यही तीन स्थल हैं, जहाँ रुद्र का व्रात्य के साथ सम्बन्ध है। अब देखें कि इनसे हम किस निर्णय पर पहुँच सकते हैं। अन्तिम उद्धरण का इसके सिवा कोई विशेष महत्त्व नहीं है कि रुद्र का सम्बन्ध पशुओं और वनस्पतियों से था, जो हमें पहले से ही विदित है। इसी उद्धरण में यह भी कहा गया है कि व्रात्य ने विभिन्न दिशाओं और विभिन्न पदार्थों की ओर चलते हुए अन्य देवताओं का रूप भी धारण किया। दूसरे उद्धरण में, अपने विभिन्न नामों से रुद्र दिक्पाल के रूप में ही दीखते हैं, और व्रात्य के साथ उनका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। अतः इस उद्धरण का महत्त्व इस बात में नहीं है कि इससे व्रात्य और रुद्र के बीच कोई विशेष

---

१. हौएर : दर व्रात्यः।
२. एन. एन. घोष : इंडो आर्यन लिटरेचर एन्ड कलचर (Origins) १९३४ ई०।
३. अथर्व० : १५, १, ४, ५।
४. ,, : १५, ५, १, ७।
५. ,, : १५।

सम्बन्ध सिद्ध होता है, अपितु इसमें है कि यह रुद्र के स्वरूप में और अधिक विकास का द्योतक है; क्योंकि अब अपने और कार्यों के अतिरिक्त रुद्र दिशाओं के संरक्षक के रूप में भी दृष्टिगोचर होते हैं। अब हमारे सामने केवल प्रथम उद्धरण रह जाता है, जिसमें कहा गया है कि व्रात्य 'महादेव' और 'ईशान' बन गया। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि अथर्ववेद में महादेव रुद्र की उपाधि है, और 'ईशान' की उपाधि 'यजुर्वेद' में ही रुद्र को दे दी गई थी, तथापि यह दोनों केवल उपाधि मात्र हैं। अभी रुद्र के विशिष्ट नाम नहीं बने हैं। 'महादेव' का अर्थ है 'महान् देवता' और यह उपाधि दूसरे देवताओं को भी दी गई है। 'ईशान' का अर्थ है—प्रभु और इसी अर्थ में इसका यहाँ प्रयोग हुआ है। अतः अधिक-से-अधिक हम यह कह सकते हैं कि इन उद्धरणों में रुद्र की ओर कोई संकेत है या नहीं, यह एक खुला प्रश्न है। इस मंडल के शेष भाग में और अपरकालीन व्रात्यस्तोमों में, व्रात्यों और रुद्र के बीच कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। महाभारत में भी जहाँ 'व्रात्य' एक अपमानसूचक शब्द है, जो गर्हित वाह्लीकों के लिए प्रयुक्त किया गया है[1], वहाँ व्रात्य और रुद्र में कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। डाक्टर 'हौएर' का यह कथन औचित्य से बहुत दूर है कि व्रात्य वाह्लीकों के विलासमत्त शैव सुरासेवियों के जघन्य कृत्य हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि डाक्टर साहब को 'गौरी' शब्द ने भ्रम में डाल दिया, जो वाह्लीक युवतियों के लिए प्रयुक्त हुआ है और जिसका साधारण अर्थ एक गौरवर्ण कन्या है। शिवपत्नी पार्वती की ओर यहाँ कोई संकेत नहीं है। अतः यह संभव है, इस उद्धरण में जो 'महादेव' और 'ईशान' शब्द हैं, उनका रुद्र की ओर संकेत है ही नहीं, और वे केवल अपने शाब्दिक अर्थ में व्रात्य का माहात्म्य बताने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। यदि उनका रुद्र की ओर संकेत हो भी; तो हम इससे अधिक और कोई अनुमान नहीं लगा सकते हैं कि इस समय तक रुद्र एक महान् देवता और देवाधिदेव समझे जाते थे, और जब व्रात्य का माहात्म्य बढ़ा तब उसकी रुद्र से तुलना की गई। जो भी हो, इन उद्धरणों से हमें इतनी सामग्री नहीं मिलती कि हम महामहोपाध्याय 'श्री हरप्रसाद शास्त्री' के इस कथन का समर्थन कर सकें कि रुद्र ही व्रात्य हैं, और वह पर्यटकों के देवता हैं, स्वयं पर्यटकाधिराज हैं तथा पर्यटक दल की आत्मा हैं[2]। पौराणिक शिव की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं (जैसे उनके कृत्तिधारी वेश और उनका कोई धाम न होना) जो शास्त्री जी के विचार में, शिव के पर्यटक होने के द्योतक हैं। परन्तु जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, इन सबका संतोषजनक समाधान अन्य प्रकार से किया जा सकता है।

अथर्ववेद में रुद्र के स्वरूप के सम्बन्ध में एक और बात पर विचार करना शेष रह गया है। यज्ञ में आहुति के रूप में रुद्र को पाँच प्राणी समर्पित किये गये हैं। उनमें से एक मनुष्य है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है रुद्र को कभी-कभी नर-बलि भी दी जाती थी। यह असंभव नहीं है; क्योंकि नरमेध की प्रथा प्राचीन आर्यों में काफी प्रचलित थी और आर्यों में ही क्यों, उस युग की सभी सभ्य जातियों में यह प्रथा प्रचलित

---

१. महाभारत (बम्बई संस्करण) कर्णपर्व—३२ और ४३-४४; ३८, २०।
२. JSAB—१९११, पृ० १७।

थी। प्राचीन ग्रीक, रोमन और पारसीकों में हमें इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। वैदिक आर्यों में भी इस प्रथा के प्रचलित होने के अकाट्य प्रमाण यजुर्वेद का पुरुषमेध यज्ञ और 'ऐतरेय ब्राह्मण' में शुनःशेफ की कथा में है। अतः यह नितान्त संभव है कि यदा-कदा रुद्र को भी नरबलि दी जाती हो, विशेषकर जब उसका संतानवृद्धि से सम्बन्ध था। संतानवृद्धि के लिए जो विधियाँ की जाती थीं, उन्हीं में इस प्रकार की बलि साधारणतया दी जाती थी। कालान्तर में वैदिक आर्यों ने इस प्रथा की निन्दा की, और अन्त में इसको बन्द कर दिया। परन्तु यत्र-तत्र यह प्रथा दीर्घ काल तक चलती रही, और जब हम महाभारत में जरासन्ध को नरबलि द्वारा भगवान् शिव को प्रसन्न करने की चेष्टा करते पाते हैं, तब हमें इसको ऐसी गर्हित और अनार्य प्रथा नहीं समझना चाहिए जिसकी श्रीकृष्ण ने निन्दा की, और न हमें जरासन्ध को ही एक अमानुषिक अत्याचारी समझना चाहिए, अपितु इसको एक अति प्राचीन प्रथा के अवशेष के रूप में देखना चाहिए जो एक समय में बहुत प्रचलित और सम्मानित क्रिया थी।

अब हम यजुर्वेद पर दृष्टि डालते हैं। ऋक् और अथर्ववेद के सूक्तों के निर्माण काल में और यजुर्वेद के सूक्तों के निर्माण काल में काफी अन्तर प्रतीत होता है, और इस कालावधि में वैदिक आर्य 'सप्तसैन्धव' के पर्वतों और मैदानों से आगे बढ़ते हुए कुरुक्षेत्र के प्रदेश तक आ गये थे। इसी कालावधि में रुद्र के स्वरूप में भी पर्याप्त विकास हुआ। अथर्ववेद में रुद्र के जिस भयावह रूप पर जोर दिया गया है, वह यजुर्वेद में और भी प्रमुख हो जाता है। रुद्र के शरों का आतंक अब पहले से भी अधिक है, और उनको दूर रखने के लिए रुद्र से प्रार्थना की जाती है[1]। रुद्र का एक नाम अब 'किवि', अर्थात् ध्वंसक या 'हानिकर' भी है[2], और एक स्थल पर रुद्र के प्रसंग में 'दौर्मात्य' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ भाष्यकार 'महीधर' ने किया है—'उच्छृंखल आचरण'[3]। रुद्र के इस आतंक के फलस्वरूप उनको कई अन्य प्रशंसासूचक उपाधियाँ भी दी गईं, और उनके धनुष और तरकस को 'शिव' कहा गया है[4]। उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें, न कि भयंकर समझे जानेवाले अपने पथ पर[5]। भिषक् रूप में भी रुद्र को कभी-कभी स्मरण किया गया है और मनुष्य और पशुओं के लिए स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिए उनसे प्रार्थना की गई है[6]। संभवतः अपने इसी भिषक् रूप में उनका सम्बन्ध देवचिकित्सक अश्विनी-कुमारों से हुआ, जिनको यजुर्वेद में रुद्र के पथ पर

---

१. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १,१,१, इत्यादि।

२. ,, : (वाजसनेयी ,,) १०, २०।

३. ,, : (वाजसनेयी ,,) ३९, ९ और महीधर का भाष्य—"दुष्टं स्खलनोच्छलनादि व्रतम्"।

४. ,, : (तैत्तिरीय ,,) ४, ५, १।

५. ,, : (तैत्तिरीय ,,) १, २, ४।

६. ,, : (,, ,,) १, ८, ६।

चलनेवाला बताया गया है [1]। रुद्र का 'पशुपति' रूप और भी अच्छी तरह स्थापित हो गया है [2], और सन्तानवृद्धि से उनका पुराना सम्बन्ध भी 'सोमारौद्र' चरु में स्पष्ट हो जाता है, जो संतानेच्छुक मनुष्य द्वारा दिया जाता था [3]।

परन्तु कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद दोनों में ही हमें दो सूक्त ऐसे मिलते हैं, जिनमें हमें रुद्र का एक नया ही स्वरूप दिखाई देता है, जिसका ऋक् या अथर्ववेद में कोई संकेत नहीं मिलता। ये दो सूक्त हैं—'त्र्यम्बक होम' और 'शतरुद्रिय'। त्र्यम्बक होम में [4] रुद्र का पशुपति और भिषक् रूप तो है ही, इसके अतिरिक्त उनके साथ एक स्त्री देवता का भी उल्लेख किया गया है, जिसका नाम है 'अम्बिका' और जिसे रुद्र की बहन बताया गया है। फिर रुद्र के विशेष वाहन मूषक की भी चर्चा है। स्वयं रुद्र को 'कृत्तिवासाः' कहा गया है। मृत्यु से मुक्ति और अमृतत्वप्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना की गई है। अन्त में जब रुद्र का यज्ञभाग उन्हें दे दिया जाता है, तब उनसे 'मूजवत' पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध किया जाता है और वह भी कुछ ऐसे ढंग से जिससे प्रतीत होता है कि उनकी उपस्थिति वांछित नहीं थी तथा स्तोता अपने-आपको रुद्र से दूर ही रखना चाहता था।

उपर्युक्त विवरण से कई प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो यह कि यह स्त्री देवता 'अम्बिका' कौन है और इसका रुद्र का साथ उल्लेख कैसे हुआ? दूसरे रुद्र को 'कृत्तिवासा' क्यों कहा गया है, और मूषक उनका वाहन क्यों बनाया गया है? यज्ञ में रुद्र की उपस्थिति वांछित क्यों नहीं थी और यज्ञभाग देने के पश्चात् उनको मूजवत पर्वत के परे जाने को क्यों कहा गया है? इन प्रश्नों के उत्तर देने से पहले हमें यह देखना चाहिए कि इन बातों का संकेत किस ओर है? इस बात का विचार छोड़कर कि इस सूक्त के देवता रुद्र हैं, हम पहले यह देखें कि इसमें वर्णित देवता का स्वरूप क्या है? मूजवत पर्वत के परे चले जाने का अनुरोध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता का वास उत्तर भारतीय पर्वतों में माना जाता था। मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उसका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत कन्दराओं में रहनेवाला माना जाता था। उसकी उपाधि 'कृत्तिवासा' यह सूचित करती है कि उसको खाल के वस्त्र पहननेवाला माना जाता था।

अन्त में 'अम्बिका' के उल्लेख से पता चलता है कि इस देवता का एक स्त्री देवता के साथ सम्बन्ध था, जिसकी पूजा भी उसी के साथ होती थी। ऋक् या अथर्ववेद में कोई ऐसा देवता नहीं है जिसमें यह सब गुण पाये जाते हों।

---

१. यजुर्वेद : (वाजसनेयी संहिता) १६, ८२ ; २३, ५८।

२. ,, : (,, ,,) ६, ३९, ३६, ८। (तैत्तिरीय) १, ८, ६।

३. ,, : (तैत्तिरीय संहिता)। २, २, १०।

४. ,, : (,, ,,) १, ८, ६। (वाजसनेयी) ३, ५७, ६३।

'त्र्यम्बक होम' यजुर्वेद के सामान्य यज्ञविधान से पृथक, एक विशेष विधि है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ऋक् और अथर्ववेद के सूक्तों के निर्माण काल के पश्चात् और यजुर्वेद के सूक्तों के निर्माण काल से पहले, किसी समय रुद्र के साथ एक आर्येतर देवता का आत्मसात् हो गया था। संभवतः हिमालय की उपत्यकाओं में बसनेवाली कुछ जातियाँ इस देवता को पूजती थीं और इसको कृत्तिवासा और कन्दरावासी मानती थीं। यह देवता कौन था, यह स्पष्ट रूप से कहना बहुत कठिन है; परन्तु अपर काल में भगवान् शिव का किरातों के साथ जो सम्बन्ध हुआ (जैसा महाभारत के किरातार्जुनीय प्रसंग से स्पष्ट है), उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद यह देवता किरातों और तत्सम्बन्धित उन जातियों का देवता था, जो उस समय हिमालय की निम्नपर्वतश्रेणियों में बसती थीं और आज तक बसती हैं।

एक देवता द्वारा किसी अन्य देवता को आत्मसात् कर लेने की यह रीति देवकथाओं में कोई असाधारण घटना नहीं है। सच तो यह है कि प्राचीन संसार में जब कभी एक जाति का किसी अन्य जाति पर राजनीतिक प्रभुत्व हो जाता था, और विशेषकर जब वह दो जातियाँ मिलकर एक हो जाती थीं, तब देवताओं का इस प्रकार एक दूसरे द्वारा आत्मसात् अनिवार्य रूप से हो जाता था। इसका एक बड़ा रोचक उदाहरण बैबीलोन का देवता है—'मरदुक'। जैसे-जैसे बैबीलोन का महत्त्व बढ़ता गया और उसका राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व फैलता गया, धीरे-धीरे सारी अधीनस्थ जातियों के देवताओं को 'मरदुक' ने आत्मसात् कर लिया। अब हम देख चुके हैं कि जिस समय वैदिक आर्यों ने भारत पर अपना राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व जमाना आरम्भ किया, उस समय रुद्र उनका एक बड़ा देवता था। इसके साथ-साथ वह एक लोकप्रिय देवता भी था—अर्थात् उसकी उपासना अधिकांश जन-साधारण में होती थी, और इसी कारण वैदिक पुरोहितों ने जिस देवमण्डल को लेकर उच्चवर्गीय वैदिक आर्यों के धर्म के प्रमुख अंगस्वरूप विस्तृत कर्मकांड की स्थापना की थी, उसके अन्तर्गत रुद्र को नहीं माना। फलस्वरूप वैदिक पुरोहितों ने रुद्र के स्वरूप की विशुद्धता की सतर्कता से रक्षा नहीं की। अतः जब वैदिक आर्यों ने दूसरी आर्येतर जातियों को अपने अन्दर मिलाना शुरू किया और फलस्वरूप स्वभावतः दोनों के जन-साधारण का ही आपस में सबसे अधिक संपर्क हुआ, तब आर्यों के जनसाधारण के देवता रुद्र ने भी इन आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् किया। यह बहुत संभव है कि आर्यों के सम्पर्क में आनेवाली सबसे पहली आर्येतर जातियाँ, हिमालय की उपत्यकाओं में बसनेवाली जातियाँ थीं; क्योंकि वे ही उत्तरी पंजाब और कश्मीर के पहाड़ों में वैदिक आर्यों के निवास-स्थान के समीपतर थीं। इन्हीं जातियों में पूजे जानेवाले किसी देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ होगा, जिसके कारण रुद्र का वह रूप बना जो हमें 'त्र्यम्बकहोम' में दिखाई देता है।

त्र्यम्बकहोम में जो सामग्री उपलब्ध है, 'शतरुद्रिय स्तोत्र' उसी का पूरक है। इस स्तोत्र में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं, जिनसे रुद्र के यजुर्वेदकालीन स्वरूप का भलीभाँति

परिचय मिल जाता है[1]। रुद्र के प्राचीन स्वरूप की स्मृति अभी तक शेष है, यद्यपि, यजुर्वेद के अन्य सूक्तों की भाँति इस स्तोत्र में भी रुद्र के भयावह बाणों का डर स्तोत्रकर्ता के मन में सबसे अधिक है[2] और प्राचीन ऋषियों के समान ही वह भी अनेक प्रशंसा-सूचक उपाधियों से रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा करता है। फिर भी रुद्र को पहली बार यहाँ 'शिव', 'शिवतर', 'शंकर' आदि कहा गया है। वह भिषक् भी हैं। उनकी पुरानी उपाधि 'कपर्दिन्' का एक बार उल्लेख हुआ है। उनकी एक अन्य 'नीलग्रीव' उपाधि पुरानी 'नीलशिखंडिन्' का ही विकास मात्र प्रतीत होती है। उनका पशुपति रूप भी इस स्तोत्र में व्यक्त है। परन्तु इस स्तोत्र का अधिक महत्त्व इस बात में है कि इसमें रुद्र को बहुत-सी नई उपाधियाँ दी गई हैं; जैसे—'गिरिशंत', 'गिरित्र', 'गिरिश', 'गिरिचर', 'गिरिशय'। यह सब रुद्र को पर्वतों से सम्बन्धित करती हैं। इसके अतिरिक्त रुद्र को 'क्षेत्रपति' और 'वणिक्' भी कहा गया है। इन दोनों उपाधियों से रुद्र का लोकप्रिय स्वरूप फिर स्पष्ट होता है। परन्तु इस स्तोत्र के बीस से बाइस संख्या तक के मंत्रों में रुद्र को जो अनेक उपाधियाँ भी दी गई हैं, वे बड़ी विचित्र हैं। जो स्तोत्रकर्ता, अभीतक बड़े-बड़े शब्दों में रुद्र के माहात्म्य का गान कर रहा था, वही नितान्त सहज स्वभाव से उनको इन उपाधियों से विभूषित करता है—'स्तेनानां पति' (अर्थात् चोरों का अधिराज?), वंचक (ठग), स्तायूनां पति (ठगों का सरदार?), 'तस्कराणां पति', मुष्णतां पति, विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार), 'कुलुचांना पति' आदि। आगे तेइस से सत्ताइस तक के मंत्रों में रुद्र के गणों का वर्णन है, जो वास्तव में रुद्र के उपासक वर्ग ही थे। इनमें 'सभा', 'सभापति', 'गण', 'गणपति' आदि का ही उल्लेख तो है ही, साथ ही 'व्रात', 'व्रातपति', तक्षक रथकार, कुलाल, कर्मकार, निषाद, पुंजिष्ठ, 'श्वनि' (कुत्ते पालनेवाले), मृगायु (व्याध) आदि का भी उल्लेख है। जिस सहज भाव से इन सबको रुद्र के गणों में सम्मिलित किया गया है, उससे प्रतीत होता है कि जिस समय स्तोत्र बना, उस समय इन वर्गों के लोग रुद्र के पूजनेवाले माने जाते थे। जहाँ तक उपलब्ध सामग्री से पता चलता है, ऋग्वेदीय और अथर्ववेदीय सूक्तों में यह स्थिति नहीं थी। अतः 'शतरुद्रिय स्तोत्र' में इन उपाधियों के उल्लेख से त्र्यम्बकहोम के प्रमाणों की पुष्टि होती है, और हमारा यह अनुमान न्यायसंगत प्रतीत होता है कि इस समय तक रुद्र ने एक ऐसे देवता को आत्मसात् कर लिया था, जो यहाँ की आदिम जातियों में पूजा जाता था। ऊपर जिन वर्गों का उल्लेख किया गया है, वे अधिकांश इन्हीं जातियों के थे। इसके अतिरिक्त इस स्तोत्र में रुद्र की एक अन्य उपाधि 'वनानां पति' है, और अपर काल में रुद्र का वनेचरों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है, इन दोनों से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यह जातियाँ हिमालय की उपत्यकाओं के वनों में रहती थीं। इसी स्तोत्र में 'कृत्तिवासा' उपाधि का भी फिर उल्लेख हुआ है, जिससे यह धारणा होती है कि इन वनचर जातियों ने अपने चर्मवस्त्र के अनुसार ही अपने देवता की भी, इसी वेश में, कल्पना की थी।

---

१. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) ४, ५, १ इत्यादि।

२. ,, : (वाजसनेयी ,,) १६, १-६६।

इस प्रकार यजुर्वेद में आर्यों के आर्येतर जातियों के साथ संमिश्रण का और उनको अपने अन्दर मिला लेने का पहला संकेत मिलता है। रुद्र ने इन जातियों के देवताओं को आत्मसात् किया, और इस प्रकार उनके उपासकों की संख्या बढ़ जाने से उनका महत्त्व भी बढ़ गया। इसके साथ-साथ यह भी संभव है कि जहाँ रुद्र ने इन देवताओं के विशेष स्वरूपों को ग्रहण किया, वहाँ इन जातियों में प्रचलित देवाराधना के कुछ ऐसे विशिष्ट प्रकार भी रुद्र की अर्चनाविधि के अंग बन गये, जिनको विशुद्धाचार के पक्षपाती कुछ वैदिक आर्य, विशेषकर वैदिक पुरोहित, अच्छा नहीं समझते थे। पर्याप्त सामग्री उपलब्ध न होने के कारण हम इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते; परन्तु उत्तरकालीन साहित्य में रुद्र की अर्चना के पाये जानेवाले कतिपय गर्हित रूप का सूत्रपात संभवतः यहीं से होता है। इसके अतिरिक्त रुद्र के स्वरूप और अर्चना-विधि में बाह्य पुट मिल जाने के कारण वह वेद के सामान्य देवमंडल से और भी दूर हट गये और हो सकता है, इसी कारण वैदिक आर्यों के पुरातनवादी वर्गों में रुद्र के प्रति एक विरोध-भावना खड़ी हो गई, जिसका पहला संकेत हमें 'त्र्यम्बक होम' में मिलता है। उत्तरकालीन साहित्य में इस विरोध-भावना के अनेक संकेत मिलते हैं।

यजुर्वेद को समाप्त कर ब्राह्मण ग्रन्थों का निरीक्षण प्रारम्भ करने से पहले हमें एक और बात देखनी है। यह बात है रुद्र का नया नाम, जो पहले-पहल हमें यजुर्वेद में मिलता है, अर्थात् 'त्र्यम्बक'। चूँकि पौराणिक शिव की कल्पना में उनके त्रिनेत्र रूप का विशेष महत्त्व है, अतः इस नाम पर यहाँ विशेष ध्यान देना आवश्यक है। इस नाम की व्याख्या न तो यजुर्वेद में, न ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह एक बहुव्रीहि समास है और अपरकाल में इसका अर्थ बराबर 'तीन नेत्रों वाला' किया जाता था। परन्तु यह भी निश्चित है कि प्रारम्भ में इस शब्द का यह अर्थ नहीं था। वैदिक साहित्य में, और बाद में भी, 'अम्ब' शब्द का अर्थ है—'पिता'। अतः हम इसकी व्युत्पत्ति पर ध्यान दें, तो त्र्यम्बक का अर्थ होना चाहिए 'जिसके तीन पिता हैं'। अब वैदिक देवताओं में केवल एक देवता ऐसा है जिसपर यह वर्णन लागू हो सकता है और वह है अग्नि, जिसके तीन जन्मों का (पृथिवी, आकाश और द्यु में) वैदिक साहित्य में बहुधा उल्लेख मिलता है। चूंकि रुद्र और अग्नि का तादात्म्य है ही, अतः यह सहज में ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उपाधि वास्तव में अग्नि से चल कर रुद्र के पास आई। कालान्तर में अम्बक शब्द का मूल अर्थ लोग भूल गये और अम्ब के दूसरे अर्थ 'नेत्र' को लेकर इसकी व्याख्या करने लगे। इस भ्रान्ति के कारण ही पौराणिक शिव के एक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख स्वरूप की उत्पत्ति हुई, और शिव के तृतीय नेत्र की सारी कथा रची गई।

जब हम ब्राह्मण ग्रन्थों को देखते हैं तो हम रुद्र का पद और भी ऊँचा पाते हैं। रुद्र का आतंक अधिक बढ़ गया है। देवता तक उनसे डरते हैं[1]। यद्यपि उनको पशुपति

---

१. शतपथ : ६, १, १, १-५।

कहा गया है [1] और पशुओं को उनके नियंत्रण और संरक्षण में रखा गया है [2], तथापि उनकी कल्पना निश्चित ही पशुहन्ता के रूप में ही की गई है [3]। एक स्थल पर तो स्तोता यह प्रार्थना करता है कि उसके पशु रुद्र के संपर्क में न आवें [4]। ब्राह्मण ग्रन्थ-कर्त्ताओं के मन में रुद्र के इस भीषण स्वरूप ने ऐसा घर कर लिया कि उन्होंने यहाँ तक कह डाला है कि रुद्र की उत्पत्ति सब देवताओं के उग्र अंशों के मेल से हुई और मन्यु से रुद्र का तादात्म्य भी किया गया है [5]। रुद्र को स्पष्ट रूप से 'घोर' और 'क्रूर' कहा गया है, और उनसे बराबर यही प्रार्थना की जाती है कि उनके बाण स्तोता की ओर न चलें [6]।

ब्राह्मण ग्रन्थों में उत्तर अथवा उत्तरपूर्व दिशा को रुद्र का विशेष आवास कहा गया है [7], और एक स्थल पर कृष्णवस्त्रधारी उत्तर दिशा से आनेवाला एक विचित्र पुरुष कहकर रुद्र का वर्णन किया गया है [8]। इन सबसे त्र्यम्बक होम के प्रमाणों की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में आर्येतर अंशों के मिल जाने के कारण उनमें और अन्य देवताओं के बीच जो अन्तर आता जा रहा था, उसके भी अनेक संकेत ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। 'गवेधुक होम' में कहा गया है कि जिस समय अन्य देवतागण स्वर्ग को गये, उस समय रुद्र को पीछे छोड़ दिया गया और इसी कारण उनका नाम 'वास्तव्य' पड़ा—अर्थात् 'जो घर पर ही रहे' [9]। फिर अन्य देवताओं ने प्रजापति को छोड़ दिया, किन्तु रुद्र ने उन्हें नहीं छोड़ा [10]। अन्त में यह भी कहा गया है कि जब देवताओं ने पशुओं को आपस में बाँटा, तब रुद्र का ध्यान नहीं रखा; परन्तु यह सोच कर कि कहीं रुद्र के प्रकोप से सृष्टि का ही विनाश न हो जाय, उन्हें मूषक समर्पित किया गया [11]। 'त्र्यम्बक होम' में रुद्र का विशेष वाहन मूषक बतलाया गया है जिसका ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार समाधान किया गया है।

इन सब बातों का संकेत एक ही ओर है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को अन्य देवताओं से पृथक् समझा जाने लगा था। वैदिककाल के सामान्य देवमंडल से रुद्र के इस पृथक्करण का रुद्र की उपासना के इतिहास और विकास में बहुत महत्त्व है। ब्राह्मणकाल में जब वैदिक कर्मकांड अपनी प्रौढावस्था को पहुँचा और उसका

---

१. शतपथ : ५, ३, ३, ७ इत्यादि।
२. ,, : ६, ३, २, ७ इत्यादि।
३. ताण्ड्य : ७, ९, १६-१८।
४. कौशीतकी : ३, ४।
५. ऐतरेय : ३, ८, ६; तलवकार : ३, २६१; शतपथ : ९, १, १, ६।
६. तैत्तिरीय : ३, २, ५।
७. ऐतरेय : ५, २, ६; कौशीतकी २, २; तैत्तिरीय १, ६, १०; शतपथ ५, ४, २, १०।
८. ऐतरेय : ५, २२, ९।
९. शतपथ : १, ७, ३, १-८।
१०. ,, : ९, १, १, ५।
११. तैत्तिरीय : १, ६, १०; ताण्ड्य ७, ९, १९।

रूप अत्यधिक विकट हो गया, तब वैदिक देवताओं में से अधिकांश का व्यक्तित्व फीका पड़ गया, और वे प्रायः सर्वशक्तिमान् आह्वानमंत्र से सज्जित स्तोता के संकेतमात्र पर चलनेवाले होकर रह गये। रुद्र को छोड़कर इसका एक ही अपवाद और था, और वह है—विष्णु। परन्तु विष्णु की उपासना की कथा अलग है और उससे अभी हमारा कोई सरोकार नहीं है। रुद्र पुरोहितों के इस कर्मकांड की जकड़ में नहीं थे, और जैसे-जैसे इनके उपासकों की संख्या बढ़ती गई, इनके महत्त्व में भी वृद्धि होती गई। यह सच है कि इनकी उपासना में कुछ ऐसी बातें भी आ गईं, जो किंचित् आपत्तिजनक थीं; परन्तु वे संभवतः उन्हीं लोगों तक सीमित रहीं जिनमें वह प्रारम्भ में ही प्रचलित थीं। किन्तु दूसरी ओर इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि वैदिक आर्यों में से कुछ ऐसे प्रगतिशील विचारक थे जो कृत्रिम कर्मकांड को आध्यात्मिक उन्नति के लिए व्यर्थ समझते थे। वे रुद्र की उपासना की ओर आकृष्ट होने लगे थे। इस बात का कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक है; क्योंकि उत्तर वैदिककाल में रुद्र का जो महान् उत्कर्ष हुआ और उनको जो परमेश्वर का पद दिया गया, उसका शायद यही रहस्य है। हम पहले ही देख चुके हैं कि ऋग्वेद में जिन केशियों और मुनियों का उल्लेख है, वह संभवतः कुछ आर्येतर तपस्विवर्ग था, जो संसार का त्याग कर तपश्चर्या करता था। वैदिक आर्य इस वर्ग के लोगों को किंचित् रहस्यमय प्राणी तो समझते ही थे, साथ ही संभव है कि उनके योगाभ्यास, उनकी तपश्चर्या और प्रकृति के साथ उनके अन्तरंग संपर्क ने आर्यों को प्रभावित किया तथा वे उनकी श्लाघा के पात्र बने। जो कर्मकांड की उपयोगिता को नहीं मानते थे, और जो ब्रह्मसाक्षात् के लिए नये साधनों तथा उपायों को ढूँढ़ने एवं जीवन तथा सृष्टि-विषयक उद्बुद्ध मूल प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर खोजने में लगे हुए थे, उनमें जैसे-जैसे समय बीतता गया, श्लाघा की यह भावना बढ़ती गई। उनकी दृष्टि में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, ध्यान और तपश्चर्या द्वारा योगाभ्यास, कर्मकांड के अनेक विधानों के यंत्रवत् संपादन की अपेक्षा, अधिक उपयोगी था। अतः संभव है कि मुनियों और केशियों के आचार और अभ्यास को इन विचारकों ने धीरे-धीरे अपनाया हो और उसमें विकास किया हो। इस प्रकार उस आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसने भारतीय धार्मिक विचारधारा और आचार में आमूल परिवर्तन कर दिया, तथा उपनिषद् ग्रन्थ जिसके प्रथम साहित्यिक प्रमाण हैं।

अब जैसा हम देख चुके हैं, रुद्र कभी भी विशुद्ध रूप से कर्मकांड के देवता नहीं थे; पर ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक वह एक प्रमुख देवता बन गये थे जिनका अपना वास्तविक व्यक्तित्व था। अतः जब इन विचारकों ने धार्मिक विचारधारा में यह नया आन्दोलन शुरू किया, तब स्वभावतः उन्होंने कर्मकांड के अन्य देवताओं को छोड़कर इसी देवता की उपासना को अपनाया। इस प्रकार रुद्र की उपासना जन-साधारण में ही नहीं, अपितु आर्यजाति के सबसे उन्नत और प्रगतिशील वर्गों में भी होने लगी। इससे रुद्र के पद में और भी वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। चूँकि किसी भी समाज में नीति और सदाचार की भावना और 'ऋत' की कल्पना, सर्वप्रथम उसके उन्नत और प्रगतिशील वर्गों में ही विकसित होती है। अतः पहले का ही शक्तिशाली रुद्र, जिनका आतंक लोगों के हृदयों पर छाया हुआ था, इस 'ऋत' के मूर्तिमान् स्वरूप बन गये, जब कि अन्य देवता सर्वशक्तिमान् यज्ञविधि के समक्ष

क्षीण होते चले जा रहे थे। इससे रुद्र का पद निश्चित रूप से इन अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया, और नाम से ही नहीं, अपितु वास्तव में वह 'महादेव' बन गये।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को यह गौरवास्पद प्राप्त हो गया था। रुद्र की अन्य देवताओं द्वारा उपेक्षा होने पर भी सब देवता उनसे डरते थे, इसीलिए उन्हें 'देवाधिपति' कहा गया है।[1] 'ईशान' और 'महादेव' अब उनके साधारण नाम हैं। परन्तु इस प्रसंग में सबसे महत्त्वपूर्ण संदर्भ 'ऐतरेय ब्राह्मण' में है, जहाँ प्रजापति की सरस्वती के प्रति अगम्य-गमन की कथा कही गई है।[2] प्रजापति के अपराध से देवता क्रुद्ध हो जाते हैं, और अन्त में उनको दंड देने के लिए रुद्र को नियुक्त करते हैं। इस कथा में अन्य देवताओं की अपेक्षा रुद्र का नैतिक उत्कर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। अन्य देवता प्रजापति के स्तर पर ही हैं; क्योंकि वे सब-के-सब यज्ञकर्म के प्रबल नियमों के अधीन हैं। अतः वे स्वयं प्रजापति को दंड देने में असमर्थ हैं। परन्तु रुद्र पर ऐसा कोई बन्धन नहीं है, और इसी कारण, वही प्रजापति के दंड का विधान करते हैं। यह बात जैमिनीय ब्राह्मण में और भी स्पष्ट हो जाती है, जहाँ इसी कथा का रूपान्तर दिया गया है।[3] यहाँ यह कहा गया है कि देवताओं ने प्राणिमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की। रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ, और जिसके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया। इस बात के संकेत भी हमें मिलते हैं कि कुछ लोग तो ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में ही रुद्र को इस प्रकार मानने लगे थे; क्योंकि जब प्रजापति को दंड दे चुकने पर देवताओं ने रुद्र को पारितोषिक के रूप में कुछ देना चाहा, तब रुद्र ने विश्व की प्रत्येक वस्तु को अपना बताया। 'नामानेदिष्ठ' की कथा में भी रुद्र ने इसी प्रकार अपना अधिकार जताया है, और नामानेदिष्ठ के पिता ने भी इसका समर्थन किया है।[4]

रुद्र की उपासना ने ब्राह्मणों के कर्मकांड को जब इस प्रकार चुनौती दी, तब शायद ब्राह्मण पुरोहितों ने रुद्र को सामान्य देवमंडल के अन्तर्गत करने और इस तरह यथासंभव रुद्र की उपासना को पुरातन वैदिक उपासना के अनुकूल बनाने का प्रयास किया। उन्होंने इसके दो ढंग निकाले। पहले तो उन्होंने रुद्र और अग्नि के पुराने तादात्म्य पर जोर दिया। इसका संकेत हमें यजुर्वेद में ही मिल जाता है, जहाँ अग्नि-द्वारा देवताओं की संपत्ति का अपहरण किये जाने की कथा में रुद्र और अग्नि का तादात्म्य किया गया है,[5] तथा सोमारौद्र चरु दोनों को एक ही माना गया है, और उनके नाम साधारण रूप से एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त किये जाते हैं।[6] ब्राह्मण ग्रन्थों में रुद्र का नियमपूर्वक 'अग्निस्विष्टिकृत' से तादात्म्य

१. कौशीतकी : २३,३।
२. ऐतरेय : ३,१३,९।
३. जैमिनीय : ३,२६१,६३।
४. ऐतरेय : ५,२२,९।
५. यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) १,५,१।
६. ,, : ,, ,, २,२,१०।

किया गया है।[1] दूसरे, ब्राह्मणों ने रुद्र के जन्म के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ रचीं, जिनमें रुद्र का अन्य देवताओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की और उनके कर्मकांड-विरोधी स्वरूप को ढँकने की चेष्टा की गई है। इसी तरह 'कौशीतकी ब्राह्मण' में रुद्र का जन्म अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमस् के बीज से बताया गया, जो स्वयं प्रजापति द्वारा उत्पन्न किये गये थे।[2] 'शतपथ ब्राह्मण' में रुद्र को संवत्सर और ऊषा के मिलन से उत्पन्न बताया गया है।[3] 'जैमिनीय ब्राह्मण' में एक स्थल पर कहा गया है कि यज्ञ में जाते समय देवताओं ने अपने क्रूर अंशों को अलग कर दिया, और इन क्रूर अंशों से ही रुद्र की उत्पत्ति हुई।[4] रुद्र की विविध उपाधियाँ अब उनके अनेक नाम माने जाते हैं, जो रुद्र के जन्म पर प्रजापति ने उन्हें दिये थे। इनमें एक नाम है 'अशनि', जिसका कौशीतकी ब्राह्मण में उल्लेख हुआ है और जो रुद्र के प्राचीन विद्युत् स्वरूप की ओर संकेत करता है। इन कथाओं में रुद्र का 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' भी कहा गया है। ऋग्वेद में ये विशेषण पुरुष के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। रुद्र के उत्कर्ष का यह एक और संकेत है।

प्राचीन वैदिक साहित्य का निरीक्षण समाप्त हुआ। अब उत्तर वैदिक साहित्य का निरीक्षण करने से पहले, हमें अपनी खोज का एक अन्य सूत्र पकड़ना है। अतः यह अच्छा होगा कि हम संक्षेप में यह देखें कि अब तक की हमारी छान-बीन का क्या निष्कर्ष निकलता है।

हमने देखा कि अन्य प्राचीन वैदिक देवताओं की तरह रुद्र की कल्पना भी प्राकृतिक तत्त्वों के मानवीकरण से की गई थी। वे घने मेघों में चमकती हुई विद्युत् के प्रतीक थे। विद्युत् के प्रतीक होने के कारण रुद्र और अग्नि का तादात्म्य भी धीरे-धीरे व्यक्त हो गया। रुद्र के बाणों से पशुओं और मनुष्यों के विनाश का भय था। इसी से उनकी रक्षा के लिए रुद्र को प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती थी और इस प्रकार कालान्तर में उनको स्वयं पशुओं का संरक्षक अथवा स्वामी माना जाने लगा। रुद्र के द्वारा जो कल्याणकारी वर्षा होती थी, उसके कारण रुद्र का सम्बन्ध उर्वरता और पेड़-पौधों से हो गया और उनको 'भिषक्' की उपाधि दी गई। उर्वरता और पेड़-पौधों का देवता होने के नाते रुद्र के अधिकतर उपासक वे लोग थे, जो खेती करते थे अथवा पशु पालते थे। उच्चवर्ग के लोगों में, जिनके मनोनीत देवता पराक्रमी इन्द्र और हविर्वाहक अग्नि थे, रुद्र के उपासक कम ही थे। अतः प्रधान रूप से रुद्र एक लोकप्रिय देवता थे, और इसी कारण ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उनका स्थान अधिक प्रमुख है। अथर्ववेद के एक मंत्र के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि कभी-कभी रुद्र को नरबलि भी दी जाती थी। परन्तु वैदिक आर्यों में यह प्रथा अधिक समय तक न ठहर सकी।

१. कौशीतकी : ३,६ इत्यादि।

२. ,, : ६,१।

३. शतपथ : ६,१,३।

४. जैमिनीय : ३,२६१,२६३।

जब वैदिक आर्यों ने भारतवर्ष में अपने प्रभुत्व को विस्तार करना शुरू किया, तब धीरे-धीरे रुद्र ने अन्य उर्वरता-सम्बन्धी उन देवताओं को—जिनका स्वरूप रुद्र से कुछ मिलता-जुलता था और जिनकी उपासना आर्यों के प्रभाव क्षेत्र में आनेवाला विभिन्न आर्येतर जातियों में होती थी—आत्मसात् कर लिया। इनमें से एक देवता के साथ एक स्त्री देवता भी थी, जिसका उल्लेख यजुर्वेद में रुद्र की भगिनी के रूप में किया गया है। उसका नाम है—अम्बिका, जिसका अर्थ है 'माता'। अन्य देवताओं को इस प्रकार आत्मसात् कर लेने के कारण रुद्र के उपासकों की संख्या बहुत बढ़ गई, और फलस्वरूप रुद्र का महत्त्व भी बढ़ गया। इसके साथ-साथ रुद्र ने इन देवताओं के कुछ ऐसे गुणों और कर्मों को भी अपना लिया और उनके साथ कुछ ऐसी रीतियाँ और विधियाँ भी रुद्र की उपासना में प्रविष्ट हो गईं जिनको आर्यों के पुरातनवादी वर्ग पसन्द नहीं करते थे। इससे रुद्र आर्यों के प्रधान देव-मंडल से और भी दूर हट गये। परन्तु जब ब्राह्मणों ने वैदिक कर्मकांड को बढ़ाया, तब इसी दूरी के कारण रुद्र की वह दशा नहीं हुई जो अन्य देवताओं की हुई। जब अन्य देवताओं के पुराने व्यक्तित्व की केवल स्मृति शेष रह गई, तब भी रुद्र एक सजीव और शक्तिशाली देवता बने रहे। धीरे-धीरे रुद्र की उपासना आर्यों के प्रगतिशील विचारकों में भी फैली, जिन्होंने कर्मकांड को अस्वीकार कर दिया था। रुद्र के पदोत्कर्ष का शायद यह सबसे बड़ा कारण था, और ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र को एक महान् देवता माना जाने लगा था, जो अन्य देवताओं से बहुत ऊपर थे। कुछलोग तो इन्हें परम परमेश्वर भी मानने लगे थे।

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक, रुद्र आर्य-धम के एक प्रधान देवता बन गये थे। पौराणिक शिव के स्वरूप और उपासना के बहुत-से प्रमुख अंश, वैदिक रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना से ही लिये गये हैं। स्वयं 'शिव' यह नाम भी वैदिक रुद्र की प्रशंसा-सूचक उपाधि है, जो सबसे पहले यजुर्वेद में पाई जाती है। शिव के दूसरे नामों की उत्पत्ति कैसे हुई, यह भी हम ऊपर देख आये हैं। शिव के तीन नेत्रों की कल्पना, रुद्र की उपाधि 'त्र्यम्बक' के अर्थ के विषय में भ्रम हो जाने से हुई, और 'नीलशिखंड' जैसी उपाधि में हमें शिव के हलाहलपान की पौराणिक कथा का बीज मिलता है। यह उपाधि यजुर्वेद में 'नीलग्रीव' में परिणत हो गई। 'कपर्दिन्' और 'केशिन्' प्रभृति वैदिक रुद्र की उपाधियों के कारण पौराणिक शिव के जटाधारी स्वरूप की कल्पना हुई। केशियों और मुनियों के साथ वैदिक रुद्र के पुराने साहचर्य के फलस्वरूप पौराणिक शिव के योगाभ्यास के साथ सम्बन्ध और उनके महायोगी स्वरूप की उत्पत्ति हुई। वैदिक रुद्र का आवास उत्तरी पर्वतों में मान लेने से ही अपरकाल में शिवधाम कैलास की देवकथा बनी। यजुर्वेद के शतरुद्रिय स्तोत्र में रुद्र के धनुष को 'पिनाक' कहा गया है और बाद में शिव के धनुष का यही नाम पड़ गया। वैदिक रुद्र की उपाधि 'कृत्तिवासा' के कारण ही पौराणिक शिव को भी 'कृत्तिधारी' माना गया। अन्त में हमने यह भी देखा है कि किस प्रकार रुद्र की उपासना में विभिन्न बाह्य अंशों का समावेश हुआ। इससे पौराणिक शैव-धर्म का वह स्वरूप बना, जिसके अन्तर्गत इतने विविध प्रकार के विश्वास और रीति-रिवाज आ गये, जितने शायद् किसी धर्म में नहीं आये।

परन्तु पौराणिक शैव धर्म के कुछ ऐसे भी प्रमुख अंश हैं, जिनको हम इस प्रकार प्राचीन वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं पाते और इस कारण जिनका उद्भव हमें कहीं और खोजना पड़ेगा। इनमें सबसे पहले 'लिंग-पूजा' है, जो अपर वैदिक काल में शिवोपासना का सबसे प्रमुख रूप बन गई। ऊपर के निरीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में कोई ऐसा संकेत नहीं है जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि रुद्र की, किसी समय भी इस रूप में, पूजा होती थी। न हमें कोई ऐसा प्रमाण ही मिलता है कि किसी वैदिक विधि में लिंग के प्रतीकों की पूजा होती थी। यह ठीक है कि जननेन्द्रियों की बहुधा चर्चा हुई है और अनेक रूपक और लक्षणवाक्य संभोग कर्म के आधार पर बाँधे गये हैं, जो सम्भवतः कुछ उर्वरता सम्बन्धी संस्कारों के अंग भी थे। उदाहरणतः अश्वमेध यज्ञ की वह विधि, जहाँ यजमान की प्रधान पत्नी को बलि दिये हुए अश्व के साथ सहवास करना पड़ता था। परन्तु किसी बात से यह पता नहीं चलता कि लिंग के प्रतीकों की कभी उपासना होती थी या उनका सत्कार किया जाता था अथवा उनका कोई धार्मिक या चमत्कार-सम्बन्धी महत्त्व दिया जाता था। इससे डा० लक्ष्मण स्वरूप के उन तर्कों का निराकरण हो जाता है जिनसे उन्होंने हाल के एक लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ का जो वर्णन दिया गया है, उससे लिंग-पूजा का अस्तित्व सिद्ध होता है[1]। अतः जब अपर वैदिक काल में हम देखते हैं कि शिव की उपासना का लिंग-पूजा के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, तब हमें यह मानना ही पड़ता है कि यह सम्बन्ध किसी बाह्य प्रभाव का फल है, जिसका स्रोत हमें खोजना है।

अपर वैदिक शैव धर्म का दूसरा बड़ा स्वरूप—शक्ति-पूजा है। हम देख चुके हैं कि यजुर्वेद में रुद्र के साथ एक स्त्री-देवता का भी उल्लेख हुआ है, जो उसकी बहन बताई गई है। परन्तु उसका स्थान नगण्य है और उस एक संदर्भ को छोड़कर, जहाँ उसका उल्लेख हुआ है, समस्त वैदिक साहित्य में उसका और कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत अपर वैदिक काल में 'शक्ति' प्रथम श्रेणी का देवता है, जो महामाता मानी जाती थी। उसकी उपासना स्वतन्त्र रूप से होती थी और उसका पद शिव के बिलकुल बराबर था। शक्ति के स्वरूप और उसकी उपासना का, केवल यह मानने से संतोष-जनक समाधान नहीं हो सकता है कि यह उपासना अम्बिका अथवा किसी और वैदिक स्त्री-देवता की उपासना का विकास मात्र है। अतः यहाँ फिर हमें कोई वैदिकेतर स्रोत खोजना पड़ेगा जिसको हम शक्ति की उपासना का उद्भव मान सकें।

तीसरा स्वरूप है—स्थायी उपासना-भवनों का निर्माण और उनमें मूर्त्तियों की स्थापना करना, जो अपर वैदिक काल में भारत के तमाम मतों की उपासना का सामान्य रूप बन गया था, वैदिक उपासना के बिलकुल प्रतिकूल है। वैदिक आर्यों ने बड़ी-बड़ी यज्ञ-वेदियों और कुछ अस्थायी मंडपों से अधिक कभी कुछ नहीं बनाया। इन दोनों में से किसी को भी स्थायी बनाने का कोई उद्देश्य नहीं होता था। जहाँ तक मूर्त्तियों का प्रश्न है, हमारे पास इस बात का कोई

१. लक्ष्मणस्वरूप—ऋग्वेद एण्ड मोहंजोदड़ो : इण्डियन कल्चर, अक्टूबर, १९३७ ई०।

प्रमाण नहीं है कि आर्यों ने कभी देव-मूर्त्तियाँ बनाईं, यद्यपि देवताओं की कल्पना वह पुरुष-विध ही करते थे। अतः मन्दिरों में उपासना की प्रथा भी, संभवतः विदेशों से ही भारत में आई। यहाँ मैं एक आपत्ति का पहले से ही निराकरण कर देना चहता हूँ। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि भारत में मन्दिर और मूर्त्तियाँ बनाने की प्रथा किसी विदेशी प्रभाव के अधीन शुरू हुई; परन्तु इससे मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि मन्दिरों और मूर्त्तियों के आकार भी विदेशी थे। एक बार इस विचार के उत्पन्न हो जाने के बाद बहुत संभव है कि इनकी रूप-रेखा धीरे-धीरे वैदिक काल के स्थायी मंडपों से ही विकसित हुई हो। परन्तु यह विचार आया कहाँ से? आर्यों के मस्तिष्क में यह स्वतः उत्पन्न हुआ हो, ऐसा तो हो नहीं सकता; क्योंकि समस्त वैदिक धर्म में मन्दिरों की पूजा-विधि का कोई स्थान नहीं है, और न उपनिषदों की धार्मिक विचार-धारा को उपासना के स्थायी भवनों की अपेक्षा थी। सच तो यह है कि भारतवर्ष में तो सदा से ही, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नति का सर्वोच्च रूप उसीका माना गया है, जिसमें मन्दिरों और मूर्त्तियाँ जैसे वाह्य साधनों की आवश्यकता ही न पड़े। अतः जब हम देखते हैं कि अपर वैदिक धर्म में मन्दिरों और मूर्त्तियों—दोनों का बड़ा महत्त्व है, तब हमें यह मानना पड़ता है कि महान परिवर्तन वैदिक धार्मिक विचार-धारा और उपासना विधि का स्वाभाविक विकासमात्र नहीं है, अपितु किसी प्रबल वाह्य प्रभाव का परिणाम है।

पौराणिक शैव धर्म के उपर्युक्त प्रमुख अंशों के अतिरिक्त, अनेक अप्रमुख अंश भी ऐसे हैं जिनका स्रोत भी इस प्रकार हम वैदिक रुद्र की उपासना में नहीं पा सकते। इस कारण उनका उद्भव कहीं और ढूँढ़ना पड़ता है। इन सब वातों से यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी खोज का दूसरा सूत्र पकड़ें और यह पता लगावें कि यह कौन-सा वाह्य प्रभाव था, जिससे वैदिक रुद्र की उपासना में मौलिक परिवर्तन हुआ और उपरिलिखित सारी विशेषताएँ जिस धर्म में थीं; उस अपर वैदिक शैवधर्म का विकास हुआ।

द्वितीय अध्याय

पिछले कुछ वर्षों से भारतवर्ष में और आस-पास के प्रदेशों में जो पुरातात्त्विक खोजें हुई हैं, उनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता का विकास बिलकुल अलग-अलग रहकर किया, वह ठीक नहीं है। तथ्य यह है कि प्रारम्भ से ही आर्य जाति का, भारत का और अन्य देशों की दूसरी सभ्य जातियों के साथ, सक्रिय सम्पर्क रहा। सिन्धु-घाटी में जो कुछ पाया गया है, वह तो विशेष रूप से बड़े महत्त्व का है; क्योंकि उससे भारत के आर्यपूर्व युग के इतिहास पर प्रकाश पड़ता ही है। इसके साथ-साथ वह एक ऐसी खोई हुई कड़ी हमें मिलती है, जो भारतीय सभ्यता को पश्चिम एशिया की सभ्यताओं से मिला देती है और हमें बताती है कि किस प्रकार अनेक प्रकार के जातीय और सांस्कृतिक अंशों के सम्मिश्रण से और विभिन्न जातियों की विविधमुखी प्रतिभा के मेल से भारतीय सभ्यता अपने चरमोत्कर्ष को पहुँची। सबसे बढ़कर महत्त्व की बात तो यह है कि सिन्धु-घाटी की खोजों से हमें अनेक अप्रत्याशित सुराग मिले हैं जो भारतीय धर्म और संस्कृति के बहुत-से ऐसे पहलुओं को समझने में सहायक हुए हैं, जिनका समाधान अभी तक भारतीय सभ्यता का अध्ययन करनेवाले नहीं कर सके थे। शैव-धर्म के इतिहास के लिए तो इन खोजों का अपार महत्त्व है। इनसे शैव मत के उन्हीं रूपों का समुचित समाधान हो जाता है, जिनका उद्भव हम वैदिक धर्म में नहीं पा सकते—और जिनको अभी तक संतोषजनक ढंग से समझाया नहीं जा सका था।

सर्वप्रथम हम शैव मत के सबसे प्रमुख रूप 'लिंगपूजा' को लेते हैं। यह तो निश्चित है कि जिस लिंग रूप में भगवान शिव की उपासना सबसे अधिक होती है, वह प्रारम्भ में जननेन्द्रिय सम्बन्धी था। यह ठीक है कि कुछ विद्वान् ऐसा नहीं मानते और उन्होंने 'लिंग' को अन्य प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया है[1]। उनके समस्त तर्कों का आधार यही है कि अपर काल में 'लिंग' का जननेन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नहीं था और वैदिक-धर्म में भी जननेन्द्रियों की उपासना का बिलकुल कोई संकेत नहीं मिलता। परन्तु यह सब तर्क उन अकाट्य प्रमाणों के आगे अमान्य हो जाते हैं, जो निश्चित रूप से यह सिद्ध कर देते हैं कि प्रारम्भ में 'लिंग' जननेन्द्रिय-सम्बन्धी था। कुछ अतिप्राचीन और यथार्थरूपी बड़ी लिंगमूर्त्तियाँ तो हमें मिलती ही हैं[2]। इसके अतिरिक्त महाभारत में बड़े स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कहा गया है कि लिंगमूर्त्ति में भगवान् शिव की जननेन्द्रिय की ही उपासना होती थी। इसी कारण शिव को अद्वितीय और अन्य देवताओं से पृथक् माना है, जिनकी जननेन्द्रियों की इस प्रकार उपासना नहीं की जाती थी[3]। प्राचीन पुराणों में भी लिंगमूर्त्ति

१. श्री सी० वी० अय्यर: ओरिजिन एन्ड अर्ली हिस्ट्री आफ शैविज्म इन साउथ इंडिया।
२. यथा गुडीमल्लम् की लिंगमूर्त्ति।
३. इस पुस्तक का चौथा अध्याय देखिए।

को जननेन्द्रिय-सम्बन्धी माना गया है, और उसकी उपासना का कारण बताने के लिए अनेक कथाएँ रची गई हैं[1]। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना चाहे वैदिक धर्म में बिलकुल न रही हो, कालान्तर में तो उसका भारतीय धर्म में समावेश हो ही गया और वह रुद्र की उपासना के साथ सम्बन्धित हो गई। हमारे सामने अब प्रश्न यह है कि यह कब और कैसे हुआ?

जननेन्द्रियों की उपासना का प्राचीन सभ्य संसार में बहुत प्रचार था। आदि मानव के मस्तिष्क पर समस्त पार्थिव जीवन की आधारभूत प्रजनन-प्रक्रिया का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त आदि मानव के अप्रौढ विवेक ने मैथुन कर्म और पशुओं तथा धान्य की उर्वरता के बीच एक कारणकार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया[2]। इसीसे लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका एक रूप जननेन्द्रियों की उपासना है। चूँकि प्राचीन संसार के प्रायः सभी धर्मों का विकास अतिप्राचीन उर्वरता-सम्बन्धी विधियों से हुआ और उर्वरता-सम्बन्धी विविध देवता ही उनके उपास्य बने, अतः लिंगोपासना उन सबका एक प्रमुख अंग बन गई। इस प्रकार जब प्रजनन-प्रक्रिया को धार्मिक सम्मान मिला, तब यह स्वाभाविक ही था कि जिन इन्द्रियों द्वारा यह प्रक्रिया संपन्न होती है, उनमें भी एक रहस्यमयी शक्ति का अस्तित्व माना जाय। इसी कारण उनकी भी उपासना होने लगी और प्रायः सभी देशों में जहाँ उर्वरता-सम्बन्धी धर्मों का प्रचार था, लिंग और योनि की किसी-न-किसी रूप में प्रतिष्ठा होने लगी। एक ओर मिस्र में उनकी उपासना होती थी, जहाँ विशाल और यथार्थरूपी लिंगों के खुले आम और बड़े समारोह से जलूस निकाले जाते थे, और यंत्रों द्वारा उनको गति भी दी जाती थी[3]। दूसरी ओर जापान में भी वे पूजे जाते थे और साधारणतया लिंग-मूर्तियाँ अलग कर ली जाती थीं तथा पूजा के लिए सड़कों के किनारे उनको स्थापित कर दिया जाता था[4]। परन्तु लिंगोपासना का प्रमुख केन्द्र था—पश्चिम ऐशिया, जहाँ बेबीलोन और असीरियन लोगों की महान् सभ्यताओं की उत्पत्ति हुई और जहाँ वे फूली-फलीं। इस प्रदेश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, किसी-न-किसी देवता की उपासना के सम्बन्ध में लिंग-प्रतीकों की पूजा होती थी। यदि हम उत्तर से चलें तो सबसे पहले थ्रेस देश के उस देवता का परिचय मिलता है, जिसकी उपासना का प्रचार पश्चिम एशिया में संभवतः उस समय हुआ जब फिर्गियन (Phyrgian) जाति यहाँ आकर बसी, और बाद में जो देवता ग्रीस में भी 'डायोनीसस' (Dionysus) के नाम से पूजा जाने लगा। डायोनीसस उर्वरता-सम्बन्धी देवता था—उस उर्वरा पृथ्वी का देवता, जिसकी गरमाहट और रसों से विशेषकर जीवन का संचार होता है[5]। उसकी प्रजनन-शक्ति के प्रतीक के रूप में लिंगमूर्ति की उपासना होती थी और

१. इसका पाँचवाँ अध्याय देखिए।
२. क्लिफर्ड हाउवर्ड : सेक्स वरशिप।
३. हेरोडोटस : २, ४८।
४. E. R. E. IX : पृ० ८१९।
५. फारनेल : कल्ट्स आफ दि ग्रीक स्टेट्स।

ग्रीक लोगों ने यह लिंगमूर्ति भी, इस देवता के समस्त उपासना के साथ, पश्चिम एशिया से ही ली। असीरिया में 'अशेरह' की उपासना होती थी। यह देवता 'बाअल' (Baal) और देवी 'अश्तोरेथ' (Ashtoreth) के संयोग का प्रतीक था। इसका रूप बिलकुल स्त्री-योनि सा था[1]। इस प्रतीक के नमूने 'बेबीलोन' और 'निनवेह' में भी मिले हैं, जिससे यह पता चलता है कि इसकी उपासना एक बहुत बड़े प्रदेश में होती थी। कुछ और दक्षिण की ओर आते हुए हम देखते हैं कि बेबीलोन की देवी 'इश्तर' (Ishtar) और उसके पति देवता की उपासना में भी लिंगोपासना के इसी प्रकार के चिह्न मिलते हैं। 'इश्तर' की एक स्तुति में दो योनि-मूर्त्तियों के उपहार का उल्लेख किया गया है। इनको 'सल्ला' कहा गया है। इनमें एक नीलम की और दूसरी सोने की मूर्त्ति थी। इन्हें देवी का महान् प्रसाद माना जाता था[2]। लिंगपूजा समेत 'इश्तर' की इस उपासना का प्रचार दक्षिण और दक्षिण-पूर्व में अरब तथा ईरान में भी फैला हुआ था। यह ग्रीक इतिहासकार हेरोडाटस की बातों से प्रमाणित होता है। उसके कथनानुसार अरब लोग इस देवी को 'अलिलत्' और ईरानी इसको 'मित्रा' कहते थे। इस दूसरे नाम से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ईरान में इस देवी को (सम्भवतः) प्राचीन ईरानी देवता 'मित्र' की पत्नी माना जाने लगा था, और इस प्रकार इस देवी की उपासना का प्राचीन ईरानी धर्म के साथ सम्मिश्रण हो गया था।

अब सिन्धु-घाटी की सभ्यता के जो अवशेष हमें 'मोहेंजोदड़ो' और अन्य स्थानों पर मिले हैं, उनसे वहाँ के लोगों के धर्म के बारे से जो कुछ हम जान सके हैं, उससे यह पता चलता है कि यहाँ भी इसी प्रकार की एक देवी की उपासना का प्रचार था। जिन-जिन स्थानों पर खुदाई की गई है, वहाँ हर जगह आँव में पकाई हुई मिट्टी की छोटी-छोटी स्त्री-मूर्त्तियाँ मिली हैं, जो सम्भवतः इसी देवी की मूर्त्तियाँ हैं। ये निजी पूजा के लिए बनाई गई थीं। फिर जिस प्रकार पश्चिम एशिया में इस देवी के साथ एक पुरुष देवता का भी सम्बन्ध था, उसी प्रकार यहाँ भी एक पुरुष देवता था जिसके चित्र कतिपय मिट्टी की चौकोर टिकियों पर पाये गये हैं। इसके अतिरिक्त इन्हीं स्थानों पर अनेक पत्थर के लिंग-प्रतीक भी मिलते हैं, जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु-घाटी में भी लिंगोपासना का प्रचार था। इन प्रतीकों के जननेन्द्रिय-सम्बन्धी होने में कोई संदेह नहीं है; क्योंकि उनमें कुछ तो बड़े यथार्थरूपी हैं; यद्यपि अधिकांश का रूप रूढ़िगत हो गया है। इन्हीं स्थानों पर अनेक पत्थर के छल्ले भी मिले हैं, संभवतः 'लिंगयोनि' के जुड़वा प्रतीकों में योनि का काम देते थे। पश्चिम एशिया के भाँति यहाँ भी इस लिंगोपासना का सम्बन्ध देवी और उसके सहचर पुरुष देवता की उपासना के साथ था। इसमें संदेह की कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती; यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें तबतक नहीं मिल सकता जबतक कि सिन्धुघाटी में जो लेख मिले हैं, वे पढ़े नहीं जाते। फिर भी यह स्पष्ट है कि सिन्धु घाटी और पश्चिम एशिया की देवी की उपासना एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती थी। वैसे तो इस समानता से ही इन दोनों प्रदेशों की सभ्यताओं के

---

१. क्लिफर्ड हाउवर्ड : सेक्स वरशिप।

२. P. S. B. A. : ३१, ६३ और E. R. E. VII : पृ० ४३३।

परस्पर सम्बन्ध का संकेत मिलता है; पर इसके लिए हमारे पास और भी प्रमाण हैं, जिनसे यह सम्बन्ध निश्चित-सा हो जाता है। देवी की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ जैसी सिन्धु-घाटी में मिली हैं, वैसी ही ईजियन समुद्र के तट पर पश्चिम एशिया में भी मिलती हैं। इसी प्रदेश में लिंग-प्रतीक भी मिलते हैं, यह हम ऊपर बता ही चुके हैं। फिर जब इसके अतिरिक्त, हम यह भी देखते हैं कि 'मेसोपोटेमिया' की खुदाइयों में भारतवर्ष के बने गण्डे, ताबीज, मिट्टी के बरतन, देवदार के शहतीर आदि अन्य पदार्थ मिले हैं तथा सिन्धुघाटी की खुदाइयों में 'मेसोपोटेमिया' की बनी, बरमे से छिदी, मिट्टी की एक टिकिया और अन्य वस्तुएँ पाई गई हैं[1] तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और पश्चिम एशिया की सभ्यता यदि एक ही नहीं थी तो उनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य था।

भारतवर्ष और पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के बीच इस घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रमाण सर 'आरेल स्टाइन' की खोजों से मिला है। ये खोजें अभी हाल ही में वजीरिस्तान और उसके आस-पास के प्रदेशों में हुई हैं। अपनी अनेक खोज-यात्राओं में उन्होंने बहुत-सी प्राचीन बस्तियों को ढूँढ़ निकाला है, जिनके भारत और मेसोपोटेमिया के बीच स्थित होने से, और वहाँ जिस प्रकार की वस्तुएँ मिली हैं, उनसे इन दोनों प्रदेशों की सभ्यताओं के परस्पर सम्बन्ध के बारे में रहा-सहा संदेह भी लगभग मिट ही जाता है। सर आरेल स्टाइन को वजीरिस्तान में विभिन्न स्थलों पर देवी की पकी मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ मिलीं,[2] जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि इस प्रदेश में भी देवी की उपासना होती थी, अतः इस प्रदेश का और सिन्ध घाटी का धर्म एक-सा ही था। इस प्रदेश की वृषभ मूर्तियाँ, माला के दाने, मिट्टी के बरतन प्रभृति वस्तुएँ भी सिन्धु-घाटी की वस्तुओं के सदृश ही हैं। 'मुगुल घुंडाई' पर एक मिट्टी के बरतन का टुकड़ा मिला है। उस पर कुछ लिखाई भी है, जो सिन्धुघाटी की टिकियों पर की लिखाई से मिलती-जुलती है[3]। इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्रदेश सिन्धु-घाटी की सभ्यता के प्रभाव क्षेत्र के अन्दर था। इसके साथ-साथ, इस प्रदेश के लगभग सब स्थलों पर ऐसे बरतनों के टुकड़े प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिन पर चित्रकारी की गई थी। इस चित्रकारी के मुख्य प्रकार सुमेर युग से पहले की 'मेसोपोटेमिया' का चित्रकारी मुख्य प्रकारों से बहुत मिलते हैं। इससे इन प्रदेशों का पश्चिम एशिया से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, और भारत तथा पश्चिम एशिया को मिलानेवाली शृंखला पूरी हो जाती है।

सिन्धु-घाटी और पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को देखकर यह मानना कठिन है कि सिन्धु-घाटी में लिंगोपासना की उत्पत्ति स्वतन्त्र रूप से हुई। अधिक सम्भावना इसी बात की है कि देवी की उपासना के साथ-साथ यह भी पश्चिम एशिया से भारत में आई। यहाँ भी सर 'आरेल स्टाइन' की खोजों से हमें इस तथ्य का अन्तिम प्रमाण

---

१. मेके : इंडस सिविलिजेशन।
२. सर ए. स्टाइन : मेमुआर आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया नं० ३७।
३. सर ए. स्टाइन : मेमुआर आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया नं० ३७, पृ० ४२, प्लेट १०।

मिला है; क्योंकि यदि हम यह मान लें कि लिंगोपासना भारत में पश्चिम से आई, तो इसके कुछ चिह्न हमें रास्ते में कहीं मिलने चाहिए। ऐसे चिह्न हमें वजीरिस्तान के दो स्थलों पर मिलते हैं। पेरियानो घुंडई में सर आरेल स्टाइन को एक पदार्थ मिला, जिसे वह उस समय पहचान न सके[1]; परन्तु जिसको अब स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकता है कि वह एक 'योनि' का ही प्रतीक है। सर जान मार्शल ने उसे यही बताया भी है। 'मुगुल घुंडई' पर एक और पदार्थ मिला, जो एक बड़ा यथार्थ 'लिंग' का प्रतीक है[2]। ऐसे ही प्रतीकों के अन्य नमूने भी भविष्य में शायद इस प्रदेश में मिलें[3]। अतः हम यह मान सकते हैं कि इस प्रदेश में लिंगोपासना का प्रचार था या कम-से-कम लोग उससे परिचित अवश्य थे।

यहाँ यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि मिट्टी के केवल दो टुकड़ों के आधार पर हम कोई लम्बे-चौड़े निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। परन्तु ऊपर हमने पहले ही इन प्रदेशों में देवी की उपासना के प्रचार के प्रमाण उपस्थित कर दिये हैं। लिंगोपासना चूँकि इस देवी के उपासना के साथ जुड़ी हुई थी, अतः सम्भावना यही है कि यहाँ उसका भी प्रचार था और ये मिले दो पदार्थ भी इस सम्भावना को पुष्ट करते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दो पदार्थों से ही इस प्रदेश की उपलभ्य सामग्री का अन्त नहीं हो जाता। भारतवर्ष और ईरान के बीच के प्रदेश में, जिसमें सर 'आरेल स्टाइन' ने पहले-पहल खोज-यात्राएँ की हैं, अभी पुरातात्त्विक खोज बहुत कम हुई है; किन्तु भविष्य में हमें अधिक सामग्री मिलने की संभावना है। हाँ, इस भूभाग से जरा और पश्चिम, स्वयं ईरान में, इस प्रकार की सामग्री मिलने की संभावना कुछ कम है; क्योंकि यहाँ अपरकालीन सभ्यताओं ने पूर्ववर्ती सभ्यताओं के सब चिह्न पूर्ण रूप से मिटा दिये हैं। कुछ तो पुराने स्थलों पर नई इमारतें खड़ी कर दी गई हैं, और कुछ पुराने स्थलों से पत्थर निकाल-निकाल कर नई इमारतों में लगा दिये गये। परन्तु यदि हैरोडोटस का विश्वास किया जाय, तो एक समय इस देवी की उपासना ईरान में भी होती थी[4]। कुछ भी हो वजीरिस्तान की खोजों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेसोपोटेमिया की संस्कृति का प्रभाव पूर्व की ओर फैला और भारत तक पहुँचा। अतः ईरान पर भी निश्चित ही यह प्रभाव पड़ा होगा।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसी के आधार पर हमारा यह अनुमान समीचीन प्रतीत होता है कि सिन्धु-घाटी की लिंगोपासना उस लिंगोपासना का एक अंगमात्र था, जो समस्त पश्चिम एशिया में फैली हुई थी। अब यह विचार करना है कि इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश कैसे हुआ? इसके लिए हमें पहले तो यह देखना है कि सिन्धु-

---

१. सर ए. स्टाइन : मेमुआर आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया नं० ३७, पृ० ३८, प्लेट ९।

२. ,, ,, ,, : नं० ३७, पृ० ४५, प्लेट १०।

३. 'मुगुल घुंडई' में एक तश्तरी की तरह का एक पदार्थ मिला है, जो अपरकालीन शिवलिंगों की चौकी के समान है।

४. हैरोडोटस : १, १३१।

घाटी के लोगों और वैदिक आर्यों में परस्पर कैसे सम्बन्ध थे? यह निश्चित है कि वैदिक आर्यों के पंजाब में बसने से पहले सिन्धु घाटी के लोग निचली सिन्धु-घाटी में बसते थे और सम्भवतः उसके परे पूर्व और उत्तर की ओर काफी दूर तक फैले हुए थे। वैदिक आर्यों के पंजाब में आने का समय, जिस पर प्रायः सब विद्वान् का एक मत हैं, २५०० वर्ष ईसा पूर्व है। सिन्धु-घाटी की सभ्यता इससे काफी पुरानी थी; परन्तु मोहंजोदड़ों में जो एक 'सुमेरोबेबीलोनियन' मिट्टी की टिकिया मिली है, और जिसको श्री सी० एल० फैब्री ने २८००-२६०० ईसा पूर्व का बताया है, उससे सिद्ध होता है कि जिस समय वैदिक आर्य ऊपरी पंजाब में बस रहे थे, उस समय भी सिन्धु-घाटी के नगर आबाद और समृद्ध अवस्था में थे। अतः कुछ समय तक सबसे पहले वैदिक आर्य और सिन्धु-घाटी के लोग समकालीन रहे होंगे। पंजाब के मैदानों में बस जाने के तुरन्त पश्चात् ही वैदिक आर्यों ने दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ना शुरू कर दिया था, अतः यह हो नहीं सकता कि यह दोनों जातियाँ शत्रु के रूप में या किसी और तरह से एक दूसरे के सम्पर्क में न आई हों। स्वयं ऋग्वेद में ही इस सम्पर्क के प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेदीय सूक्तों में दासों, दस्युओं और आर्यों के अन्य अनेक शत्रुओं का उल्लेख हुआ है। इससे यह पता चलता है कि अपने इस नये आवास को उन्होंने सूना नहीं पाया, अपितु इसमें बहुत-सी जातियाँ पहले से ही आबाद थीं, जिन्होंने पग-पग पर इस भूमि पर अधिकार करने के लिए आर्यों का कड़ा विरोध किया। इन शत्रुओं के 'पुरों' और 'दुर्गों' का भी अनेक बार उल्लेख किया गया है जो पत्थर या लोहे के बने हुए थे[1]। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आर्यों के ये शत्रु, कुछ असभ्य और बर्बर लोग नहीं थे, जिनको आर्यों ने सहज में ही अपने मार्ग से हटा दिया। अपितु, वे सभ्य जातियाँ थीं, जिनके बड़े-बड़े नगर और किले थे, और वे संघठित रूप से रहती थीं। उनके साथ आर्यों के भयंकर युद्ध करने पड़े, इसके अनेक संकेत हमें मिलते हैं और इन्हीं युद्धों में विजय पाने के लिए आर्य लोग देवताओं से प्रार्थना करते थे। इससे हम सहज में ही अनुमान लगा सकते हैं कि इन शत्रुओं का युद्ध-कौशल और लड़ने की शक्ति आर्यों से कुछ कम नहीं थी। सच तो यह है कि यही वैदिक आर्य, जो इन शत्रुओं को तिरस्कार की भावना से दास और दस्यु कहते थे, अपनी सुविधा के अनुसार उनसे सामरिक मेल करने से भी नहीं हिचकते थे[2]। अतः जब हमारे पास इस बात का स्वतन्त्र प्रमाण है कि जिन प्रदेशों में वैदिक आर्य लड़ाइयाँ लड़ रहे थे, लगभग उसी प्रदेश में, उसी समय, एक सभ्य जाति का निवास था, तब इस बात की सम्भावना बहुत अधिक हो जाती है कि यही जाति, आर्यों का वह शत्रु थी या कम-से-कम उन शत्रुओं में से एक थी, जिनका उल्लेख ऋग्वेद के सूक्तों में हुआ है। इस तर्क के समर्थन में एक और प्रमाण भी है, जिससे वह पूर्णरूप से मान्य हो जाता है। वह तर्क है—ऋग्वेद में इन शत्रुओं की कुछ विशिष्टताओं का उल्लेख। जहाँ तक हमारा वर्तमान ज्ञान जाता है, ये विशिष्टताएँ केवल

---

१. उदाहरणार्थ ऋग्वेद, २, १४, ६।

२. यथा विख्यात 'दशराजन' युद्ध में।

सिन्धु-घाटी के लोगों में ही पाई जाती थीं। ऋग्वेद के दो विभिन्न स्थलों पर 'शिश्नदेवाः' अर्थात् शिश्न अथवा लिंग को देवता माननेवालों की चर्चा की गई है[1]। यह उपाधि सिन्धु-घाटी के लोगों के लिए बिलकुल ठीक बैठती है, जिनकी लिंगोपासना के सम्बन्ध में असंदिग्ध प्रमाणों का विवरण हम अभी दे चुके हैं। अतः यह निश्चितप्राय है कि वैदिक आर्यों का सिन्धु-घाटी के निवासियों से परिचय था और बहुत सम्भव है कि इन दोनों का क्रियात्मक रूप से सम्पर्क हुआ। इन दोनों जातियों के संघर्ष का परिणाम हुआ आर्यों की विजय, और धीरे-धीरे अन्य देशों की तरह यहाँ भी पराजित अपने विजेताओं के साथ घुल-मिल गये, और उनका पृथक् व्यक्तित्व लुप्त हो गया। परन्तु यह सम्मिश्रण दो समान रूप से सभ्य जातियों का सम्मिश्रण था और जिनकी पराजय हुई थी, उनकी सभ्यता अपने विजेताओं की सभ्यता से कुछ आगे ही बढ़ी हुई थी। अतः सम्मिश्रण की इस प्रक्रिया में दोनों जातियाँ एक दूसरे से प्रभावित हुईं। सिन्धु-घाटी के लोगों का अपना अलग व्यक्तित्व लुप्त हो गया; परन्तु उन्होंने वैदिक आर्यों की संस्कृति पर अपनी स्थायी छाप डाल दी। इन दोनों के सम्मिश्रण से जिस सभ्यता का अभ्युदय हुआ, उसकी जड़ें सिन्धु नदी की घाटी में भी उतनी ही गहरी गई हुई थीं, जितनी कि सप्त सैन्धव में।

सिन्धु-घाटी के लोगों के वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण का सबसे पहला परिणाम यह हुआ कि वैदिक आर्यों के देवताओं ने सिन्धु-घाटी के देवताओं को आत्मसात् कर लिया। हमने ऊपर कहा है कि सिन्धु-घाटी में देवी की उपासना के साथ एक पुरुष-देवता की उपासना भी होती थी, जिसको सम्भवतः देवी का पति माना जाता था। देवी का पति होने के नाते उसका सम्बन्ध बहुत करके उर्वरता से रहा होगा, और इस प्रकार उसकी स्थिति कुछ ऐसी ही थी जैसी कि मिस्र में आसिरिस (Osiris) की या बेबीलोनिया में देवी 'इश्तर' के सहचर 'ताम्मुज' (Taammuz) की। सिन्धु घाटी में पाये एक शील-चित्र में, इस पुरुष-देवता के दोनों ओर एक व्याघ्र, एक हाथी, एक गैंडा और एक भैंसा दिखाया गया है, उसके सिंहासन के नीचे दो हिरण दिखाये गये हैं। इस प्रकार शायद उसको पशुपति माना जाता हो। इन दोनों ही रूपों में वह वैदिक रुद्र के समान था और सम्भव है कि इन दोनों में और कुछ भी सादृश्य रहा हो। अतः जब सिन्धु घाटी के लोगों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हुआ, तब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ और उसके उपासक रुद्र के उपासक माने जाने लगे। यह प्रक्रिया कोई असाधारण प्रक्रिया नहीं थी; परन्तु इसके परिणाम अत्यन्त दूरव्यापी हुए।

सिन्धु-घाटी के लोग लिंगोपासक थे। ऊपर जिस शील-चित्र की चर्चा की गई है, उसमें पुरुष-देवता को 'अर्ध्वमेढ्र' अवस्था में दिखाया गया है; यद्यपि लिंग को किसी प्रकार बढ़ा कर नहीं दिखाया गया है और न किसी अन्य प्रकार से उसकी ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया गया है। इसी चित्र में इस देवता को त्रिमुख दिखाया गया है, अतः

---

१. ऋग्वेद : ७, २१, ५; १०, ९९, ३।

२. मार्शल : मोहंजोदड़ो एंड दि इण्डस सिविलिजेशन भाग १, पृ० ५२, प्लेट १२, नं० १७।

सम्भव है कि पुरुष नर का मिली एक भस्ममूर्ति, जिसकी गर्दन की मोटाई को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसके भी तीन सिर रहे होंगे, इसी देवता की मूर्ति होगी। इस मूर्ति की जननेन्द्रिय ऐसी बनाई गई है कि उसको अलग किया जा सकता है। इन दोनों बातों से यह सम्भव हो जाता है कि सिन्धु-घाटी में उर्वरता-सम्बन्धी विधियों में जिस लिंग की उपासना होती थी, वह इस देवता का लिंग था। अतः जब इस देवता का वैदिक रुद्र के साथ आत्मसात् हुआ तब इस लिंगोपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया। पहले-पहल तो यह बात जरा विचित्र-सी लगती है कि आर्यों ने जिस प्रथा को गर्हित समझा था, (उपर्युक्त दो ऋग्वेदीय मंत्रों में 'शिश्नदेवाः' का उल्लेख बड़े अपमान-सूचक ढंग से किया गया है) उसी को उन्होंने अपने एक देवता की उपासना का अंग बन जाने दिया। परन्तु, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, लिंगोपासना एक बड़ी प्राचीन प्रथा थी और दूर-दूर तक इसका प्रचार था। इसकी परम्परा इतनी प्रबल थी और जिन लोगों में इसका प्रचार था, उनकी संख्या इतनी अधिक थी कि आर्य सम्भवतः इसका पूर्णरूप से दमन नहीं कर सके। इसके साथ स्वयं आर्यों की अपनी उर्वरता-सम्बन्धी विधियाँ थीं और रुद्र भी उर्वरता के देवता थे। अतः आर्यों के कुछ ऐसे वर्गों ने, विशेषतः उन वर्गों ने जिनमें ऐसी उर्वरता-सम्बन्धी विधियों का सर्वाधिक प्रचार था और जिनका सिन्धु-घाटी के लोगों का सबसे अधिक सम्पर्क हुआ। इस प्रथा को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं समझी। आखिर इस प्रथा का एक ऐसी जाति में सम्मान था जो आर्यों से कम सभ्य नहीं थी, और फिर उर्वरता-सम्बन्धी होने के नाते वह वैदिक आर्यों के जनसाधारण के धार्मिक आचार-विचार के सर्वथा प्रतिकूल नहीं थी। इस प्रकार लिंगोपासना का आर्यों में प्रचार हुआ।

आर्यों ने इस प्रकार लिंगोपासना को स्वीकार कर तो लिया; परन्तु शीघ्र ही उन्होंने उसके मूल स्वरूप को बिलकुल पलट दिया। अपनी मूल धार्मिक विचार-धारा की पृष्ठ-भूमि न रहने के कारण और आर्य-धर्म के प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में आकर लिंगोपासना में कुछ-न-कुछ परिवर्तन तो आना ही था। यद्यपि पुरातनता के आदर से आर्यों ने उसके बाहरी आकार को तो बनाये रखा; तथापि धीरे-धीरे उसके सारे स्वरूप को बदल दिया। पुराने जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विश्वास और आचार मिटते गये, लिंग-मूर्त्तियों का आकार भी यहाँ तक रूढ़िगत हो गया कि उनका मूल रूप पहचाना नहीं जा सकता था, और अन्त में भगवान् शिव का 'लिंग' एक प्रतीक मात्र होकर रह गया—उनके निर्गुण स्वरूप का केवल एक संकेत।

सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता और वैदिक रुद्र के समीकरण का दूसरा बड़ा परिणाम यह हुआ कि आर्य-धर्म में एक देवी की उपासना का समावेश हो गया। हम ऊपर कह आये हैं कि सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता की उपासना देवी की उपासना के साथ सम्बन्धित थी। रुद्र का भी 'अम्बिका' नाम की एक स्त्री-देवता के साथ सम्बन्ध था। अतः जब रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष-देवता को आत्मसात् किया, तब यह स्वाभाविक ही था कि सिन्धु-घाटी की देवी का अम्बिका के साथ समीकरण हो जाय। वैदिक साहित्य में अम्बिका

रुद्र की भगिनी है, पत्नी नहीं। यह बात हमारे इस अनुमान में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती; क्योंकि देव-कथाओं के ऐसे सम्बन्ध शीघ्र ही बदल जाते हैं। इस प्रकार सिन्धु घाटी की यह देवी रुद्र की पत्नी मानी जाने लगी। इन दोनों स्त्री देवताओं के समीकरण में सबसे बड़ी सुविधा यह हुई कि 'अम्बिका' शब्द का अर्थ है 'माता' और सिन्धु-घाटी की देवी को भी माता ही माना जाता था तथा दोनों का सम्बन्ध उर्वरता से था। नामों या उपाधियों के साम्य से देवताओं के समीकरण का एक और दृष्टान्त असीरिया की 'इश्तर' देवी है। उसकी एक साधारण उपाधि थी 'बेलिट' अर्थात् स्वामिनी। उसको निरन्तर 'रण की बेलित' अथवा इस या उस वस्तु की 'बेलित' कहा जाता था। परन्तु यही नाम बेबीलोन के देवता 'बेल' की पत्नी का भी था। यद्यपि बेबीलोन के शिला-लेखों में 'इश्तर' का 'बेल' के साथ कहीं भी उल्लेख नहीं है, फिर भी उसकी उपाधि का, 'बेल' की पत्नी के नाम के साथ, सादृश्य होने के कारण, इन दोनों स्त्री देवताओं के सम्बन्ध में धीरे-धीरे भ्रम होने लगा और 'अशूरबनीपाल' के समय तक दोनों को एक ही माना जाने लगा था। इस सम्राट् के शिला-लेखों में 'इश्तर' को स्पष्ट रूप से बेबीलोन के देवता 'बेल' की पत्नी कहा गया है[१]।

परन्तु रुद्र की पत्नी के रूप में इस देवी का पद, अन्य वैदिक देवताओं की पत्नियों से सर्वथा भिन्न था। अन्य देवताओं की पत्नियों का अपना व्यक्तित्व बहुत कम था, उनकी ख्याति अपने पति देवताओं के कारण ही थी। परन्तु रुद्र की पत्नी एक स्वतंत्र देवता थी और देवताओं में उसका मुख्य स्थान था। वह एक पूर्ण विकसित मत की आराध्य देवी थी, और इस मत में उसका स्थान अपने सहचर पुरुष देवता से बहुत ऊंचा था। इस कारण प्रारम्भ से ही वह कभी रुद्र के व्यक्तित्व से अभिभूत नहीं हुई, अपितु उसका पद रुद्र के बराबर का था और उसका स्वतंत्र मत भी बना रहा जिसमें उसी को परम देवता माना जाता था। अतः रुद्र की पत्नी के रूप में और अपने स्वतन्त्र रूप में दोनों ही प्रकार इस देवी की उपासना होने लगी। रुद्र-पत्नी के रूप में इसकी उपासना अपर वदिक काल के शैव मत का एक अन्तरंग अंश बन गई, और अपने स्वतन्त्र रूप में इसकी उपासना से भारतवर्ष में शाक्त अथवा तांत्रिक मत का सूत्रपात हुआ[२]।

शाक्त या तांत्रिक मत का उद्गम वैदिक धर्म में ढूँढ़ने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। परन्तु इस सब का विफल होना अनिवार्य था; क्योंकि वैदिक धर्म में कोई ऐसी स्त्री देवता नहीं है, जिसकी बाद के शाक्त मत की देवी से जरा भी समानता हो। वैदिक धर्म में जो स्त्री देवता हैं भी, उनका स्थान बहुत निम्न है। कुछ सूक्तों में 'पृथिवी' का स्तवन किया गया है। परन्तु वह केवल इस धरणी का मानवीकरण है, और इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि वह कभी इस अवस्था से आगे बढ़ी हो। एक अन्य स्त्री देवता का 'रोदसी' नाम संभवतः पृथ्वी का ही एक दूसरा नाम था। उसकी 'ग्नाओ' में गणना की

१. जैस्ट्रो : रिलिजन आफ बेबीलोनिया एण्ड एसीरिया पृ० २०५-२०६।

२. इस मत में इस देवी की उपासना की उर्वरता-सम्बन्धी अनेक विधियाँ बनी रहीं।

गई है और एक बार उसको रुद्र की पत्नी कहा गया है। परन्तु कालान्तर में वह लुप्तप्राय हो जाती है। यह मानना कठिन है कि ऐसी निम्न कोटि की स्त्री देवताओं में से कोई भी देवी अपर काल की इतनी बड़ी मातृ रूपा देवी बन गई और उसने अपने इस विकास का कोई चिह्न नहीं छोड़ा; क्योंकि वैदिक साहित्य में ऐसा कोई चिह्न नहीं मिलता। वेद में केवल एक स्त्री-देवता ऐसी है जो औरों से भिन्न है और उनसे अधिक महत्त्व भी रखती है। वह है—'वाक्', जिसका पहले-पहल ऋग्वेद के एक अपरकालीन सूक्त में उल्लेख हुआ है[1]। उसकी कल्पना प्रायः देवताओं की शक्ति के रूप में की गई है और उसको देवताओं के कार्यों पर नियंत्रण रखनेवाली बताया गया है। हमें आगे चलकर इस बात पर विचार करने का अवसर मिलेगा कि किस प्रकार 'वाक्' की जैसी कल्पना से विश्वप्रकृति की कल्पना का उद्भव हो सकता है। परन्तु वाक् शाक्तमत की आराध्य देवी से बिल्कुल भिन्न है। उसको कहीं भी मातृरूप में नहीं माना है, जैसा शक्ति को माना जाता था। उसकी उपासना का उर्वरता से भी कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता है, जैसा निश्चित रूप से शाक्तों की शक्ति की उपासना का था। इसके अतिरिक्त इस वाक् का रुद्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यदि हम इस देवता को अपरकालीन शक्ति का आदि रूप मानें, तो इस शक्ति का रुद्र के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसका समाधान नहीं होता। पुराणों में 'कौलों' को विधर्मी कहा गया है,[2] अन्त में यह बात भी सिद्ध करती है कि इस देवी की उपासना का उद्गम विदेशी था। अतः हमारी यह धारणा समीचीन प्रतीत होती है कि भारतवर्ष में शाक्त मत बाहर से आया, और उसका प्रारम्भ हम उस समय से मान सकते हैं जब सिन्धु-घाटी के लोगों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो जाने के फलस्वरूप सिन्धु-घाटी की मातृदेवता की उपासना का आर्य धर्म में समावेश हुआ।

मातृ देवता की यह उपासना जिस रूप में भारत में फैली, उसी के फलस्वरूप यहाँ कुछ ऐसे रीति-रिवाजों का भी प्रचार हुआ, जिनका पश्चिम एशिया में इस उपासना के साथ सम्बन्ध था और जो बहुत करके सिन्धु-घाटी में भी प्रचलित थे। इनमें सबसे प्रमुख है, देवी के मन्दिरों में बालिकाओं और स्त्रियों का सेवार्थ समर्पण। इस प्रथा का जन्म संभवतः बेबीलोन में हुआ था; क्योंकि ऐसी स्त्रियों का सबसे प्राचीन उल्लेख बेबीलोन के लेखों में हुआ है[3]। 'ईश्तर' की उपासना के लिए जिस स्त्री को समर्पण किया जाता था, उसको साधारणतया 'उखातु' कहते थे। 'गिलगमेश' की कथा में 'एबानी' को एक ऐसी ही स्त्री ने अपने व्रत से डिगाना चाहा था। इस प्रथा का प्रादुर्भाव किसी अश्लील भावना की प्रेरणा से नहीं हुआ था, अपितु यह प्रथा मानव की अप्रौढ़ अवस्था में उस सरल और सच्चे विश्वास के फलस्वरूप जन्मी कि विधिपूर्वक की हुई संभोग-क्रिया धान्य और पशुधन की वृद्धि का साधन होती है और इसी कारण यह देवी को प्रिय है। अतः जिन स्त्रियों को इस कार्य के लिए देवी के मन्दिरों में रखा जाता था, उनके सम्बन्ध में

१. ऋग्वेद : १०, १२५।
२. पुस्तक का पाँचवाँ अध्याय देखिए।
३. जैस्ट्रो : रिलिजन आफ बेबीलोनिया एण्ड एसीरिया, पृ० ४७५-७६।

यह धारणा होती थी कि वे समाज का बड़ा हित कर रही हैं। उन पर इस कारण किसी प्रकार का धब्बा नहीं आता था; बल्कि उनको पवित्र माना जाता था और उनका समाज में बड़ा सम्मान होता था। वास्तव में बेबीलोनियन और यहूदी लोगों में तो वेश्या का साधारण नाम 'कदिस्तु' अथवा 'कदेसु' था, जिसका अर्थ है 'पवित्र'। माता-पिता बड़ी खुशी से अपनी बेटियों को मन्दिरों में सेवार्थ समर्पण कर देते थे, और इसमें अपना गौरव समझते थे [1]। धार्मिक वेश्यावृत्ति की यह प्रथा समस्त पश्चिम एशिया में फैल गई, और यहाँ तक कि यूनानी नगर 'कारिन्थ' में देवी 'एफ्रोडाइटे' की उपासना में भी इसका समावेश हो गया। इस प्रथा को कहीं भी, यहाँ तक कि यूनानियों में भी, निन्दित नहीं समझा जाता था। इसके प्रमाण में हमें यूनानी कवि 'पिंडार' की वह प्रशस्ति मिलती है, जिसमें उसने उन युवतियों का गुणगान किया है, जो वैभवशाली 'कारिन्थ' नगर में अतिथियों का सत्कार करती थीं; उनके आमोद-प्रमोद की सामग्री जुटाती थीं और जिनके विचार प्रायः 'अरेनिया' एफ्रोडाइटे' की ओर उड़ते रहते थे [2]। ग्रीक इतिहासकार 'स्ट्रैबो' ने उनको 'हेटेरा' की गौरवास्पद उपाधि दी है, जिसका अर्थ है वह जो देवी की सेवा के लिए समर्पित कर दी गई हो [3]। भारतवर्ष में यह प्रथा सिन्धु-घाटी-वासियों और आर्यों के सम्मिश्रण के बाद भी बनी रही; परन्तु किसी प्रकार इसका सम्बन्ध देवी की सेवा से हट कर पुरुष-देवता की सेवा से हो गया, और भगवान् शिव के मन्दिरों में सेवार्थ लड़कियाँ समर्पित की जाने लगीं। लिंगोपासना के समान ही इस प्रथा को भी आर्यों ने किसी प्रकार स्वीकार कर तो लिया; परन्तु वह इसको अच्छा नहीं समझते थे और जहाँ आर्यों का प्रभाव सबसे अधिक था, वहाँ यह प्रथा धीरे-धीरे मिटा दी गई। उत्तर भारत में कम-से-कम ईसा की पाँचवीं शती तक अपर वैदिक साहित्य या अन्य उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री में इस प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु देश के अन्य भागों में, जहाँ आर्यों का प्रभाव धीरे-धीरे फैला और समस्त आर्येतर तत्त्वों को अपने अन्दर नहीं समा सका, वहाँ इस प्रथा ने जड़ पकड़ ली। भारत में देवदासी प्रथा का उद्भव का सबसे संतोषजनक समाधान इसी प्रकार हो सकता है। इस समय जो सामग्री उपलब्ध है, उससे हम, सिन्धु-घाटी की सभ्यता के समय से लेकर इस प्रथा का प्रारम्भिक इतिहास नहीं दे सकते। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, इस प्रथा के आदि स्वरूप को लोग भूल गये और प्राचीन होने के नाते इसको पवित्र माना जाने लगा। यहाँ तक कि ईसा की आठवीं सदी तक (इस प्रथा का एक दक्षिण भारतीय शिला-लेख में स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है) [4] यह प्रथा स्थिर रूप से जम गई थी और राज्य की ओर से मान्यता पा चुकी थी। इसका बाहरी स्वरूप वैसा ही था जैसा प्राचीन बेबीलोनिया में था। परन्तु इस समय तक इस प्रथा का कोई अर्थ नहीं रह गया था। बेबीलोनिया के मन्दिरों की वेश्याओं का, वहाँ की उर्वरता-सम्बन्धी देवी की उपासना में एक निश्चित

---

१. जेस्ट्रो : सिविलिज़ेशन आफ बेबीलोनिया एण्ड एसीरिया।

२. फार्नेल : कल्टस आफ दि ग्रीक स्टेट्स भाग २, अध्याय २१, पृ० ६३५।

३. ,, : ,, ,, ,, ,, ,,

४. पट्टदकल में राष्ट्रकूट धारावर्ष का शिलालेख : समय ७०० शक संवत्।

स्थान था, और उनकी स्थिति का तार्किक समाधान भी किया जा सकता था। परन्तु भारतवर्ष में उनकी स्थिति का कोई तार्किक आधार नहीं था। भगवान् शिव की उपासना को उर्वरता-सम्बन्धी उपासना की अवस्था से निकले बहुत युग बीत गये थे। अतः उनके मन्दिरों में धार्मिक वेश्यावृत्ति की प्रथा केवल प्राचीन होने के नाते पवित्र मानी जाती थी, और अन्धविश्वासी उसको स्वीकार करते थे। वास्तव में यह प्रथा मन्दिरों के पुजारियों के हाथों में उनकी वासनातृप्ति और धनलिप्सा की पूर्ति का एक जघन्य साधन बनकर रह गई। इसकी दीक्षा देवता के साथ विधिवत् विवाह के द्वारा दी जाती थी और तदनन्तर लड़कियाँ देवता की मूर्ति की सेवा करती थीं। उसके आगे नृत्य करती थीं और इन कामों से अवकाश मिलने पर अपना गर्हित पेशा करती थीं। कालान्तर में कुछ वैष्णव मन्दिरों में भी इस प्रथा का प्रचार हो गया।

पश्चिम एशिया में इस देवी की उपासना के साथ एक और बड़ी महत्त्वपूर्ण विधि का भी सम्बन्ध था और भारतवर्ष में भी इसका प्रचार था, यद्यपि कालान्तर में यह प्रायः सर्वथा लुप्त हो गई। यह विधि थी मन्दिर के पुरुष पुजारियों का उन्मत्त नृत्य। इसकी इति बहुधा पुजारियों के स्वयं अपना पुंसत्व हरण कर लेने पर होती थी। विद्वान फार्नेल ने इस विधि का, और इसके पीछे जो विश्वास काम करता था उसका, इस प्रकार वर्णन किया है—"इस पूजा का स्वरूप अत्यन्त भावुक, उन्मादपूर्ण और रहस्यमय था और इसका उद्देश्य था अनेक प्रकारों से देवी के साथ अंतरंग सम्बन्ध स्थापित करना······ नपुंसक पुजारी का पद प्राप्त करने के लिए जो पुंसत्व-हरण आवश्यक समझा जाता था, उसकी उत्पत्ति भी अपने-आपको देवी से आत्मसात् करने और उसकी शक्ति से अपनेको परिपूर्ण कर लेने की उत्कट कामना के कारण हुई जान पड़ती है। यह कार्य सम्पन्न होने पर अपने रूप-परिवर्तन को सम्पूर्ण करने के लिए स्त्री-वेश धारण कर लिया जाता था[१]।"

सिन्धु-घाटी के लोगों में इस प्रथा के प्रचार का हमें कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता; परन्तु भारत में यह प्रथा रही अवश्य होगी; क्योंकि अभी थोड़े ही दिनों तक बम्बई प्रान्त में एक विशेष सम्प्रदाय में यह प्रथा प्रचलित थी।

सिन्धु-घाटी के लोगों का आर्य जाति से सम्मिश्रण का तीसरा महान् परिणाम यह हुआ कि भारत में मन्दिरों और मूर्तियों की स्थापना होने लगी। हम ऊपर देख आये हैं कि वैदिक धर्म में यह सब नहीं था। परन्तु पश्चिम एशिया के धर्मों का यह एक प्रमुख अंग था। इस प्रदेश में देवी और अन्य देवताओं के मन्दिरों के अस्तित्व के हमें प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। देवी की मृत्तिका-मूर्तियों से और अन्य चित्रों से यह पता चलता है कि उसकी मूर्तियाँ भी बनाई जाती होंगी और मन्दिरों में उनकी पूजा होती होगी। सिन्धु-घाटी में भी इसी प्रकार की देवी की मृत्तिका मूर्तियाँ मिलती हैं और बहुत करके यहाँ भी मन्दिरों में उसकी उपासना होती थी। यह ठीक है कि सिन्धु-घाटी की खुदाइयों में अभी तक हमें कोई ऐसी इमारत नहीं मिली, जिसको हम निश्चित रूप से कह सकें कि यह देवालय

१. फार्नेल : कल्ट आफ दि ग्रीक स्टेट्स, भाग ३, अध्याय ७, पृ० ३००।

था; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यहाँ मन्दिर थे ही नहीं। अभी तक तो मकानों की दीवारों की नींवें और उनके अधोभाग ही हमें मिले हैं, और उनसे यह बताना बहुत कठिन है कि वे मकान वास्तव में किस काम आते थे। हो सकता है कि उनमें से कुछ बड़े मकान देवालय रहे हों। सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के सम्मिश्रण होने पर, और इन दोनों के देवताओं का परस्पर आत्मसात् होने पर, सिन्धु-घाटी की देवी और उसके सहचर देवता के मन्दिर, रुद्र की सहचर देवी और स्वयं रुद्र के मन्दिर माने जाने लगे। इस प्रकार देवताओं के लिए देवालय बनाने की प्रथा का भारतीय धर्म में समावेश हुआ। लगभग इसी समय भारतीय धर्म में भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हो रहा था, जो पूजा के स्थायी स्थलों में सामूहिक उपासना किये जाने, और उपासकों द्वारा अपने इष्टदेव के सम्मान में भवन खड़े करने के अनुकूल था। अतः मन्दिर की उपासना का सम्बन्ध भक्तिवाद से हो गया, और धीरे-धीरे यह उपासना का एक आवश्यक अंग बन गया। कालान्तर में जब प्राचीन वैदिक धर्म का स्थान इस नये भक्तिवाद ने पूर्ण रूप से ले लिया, जब मन्दिर की उपासना भारतीय धर्म का एक प्रमुख रूप बन गई।

इन सबसे यह स्पष्ट है कि सिन्धु-घाटी में हमें जो कुछ मिला है, उससे उत्तर वैदिक शैव धर्म के अनेक प्रमुख रूपों का संतोषजनक समाधान हो जाता है। इसके साथ-साथ भारतवर्ष का, पश्चिम एशिया की सभ्यताओं के साथ, भौतिक संस्कृति और धर्म के क्षेत्रों में, जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसका भी हमें पता चलता है। सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के एक हो जाने के उपरान्त, रुद्र की उपासना ने जो स्वरूप धारण किया, वह स्वरूप उतना ही सम्मिश्रित था जितनी कि वह सभ्यता जो इस एकीकरण के पश्चात् विकसित हुई। रुद्र का अब लिंगोपासना के साथ दृढ सम्पर्क हो गया। उनको एक सहचर देवी मिली, जिसकी उपासना उनके साथ और स्वतन्त्र रूप से भी होती थी। उनकी मूर्त्तियाँ बनने लगीं और मन्दिरों में उनकी स्थापना होने लगी। सबसे बढ़कर तो यह बात हुई कि रुद्र के उपासकों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई, जिससे उनके पद का और भी उत्कर्ष हुआ। इन सबसे रुद्र के स्वरूप और उनकी उपासना में महान् परिवर्तन हो गया। वैदिक रुद्र की उपासना को अब हम पीछे छोड़ते हैं, और उत्तर वैदिक शैव-धर्म के द्वार पर आ खड़े होते हैं।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले हमें एक बात पर और विचार करना है। वह है—सिन्धु-घाटी के लोगों और आर्यों के सम्मिश्रण का समय। वैसे तो यह सम्मिश्रण एक ऐसी प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे ही होती है और दीर्घ काल तक होती रहती है। अतः इसके लिए कोई एक तिथि नियत करना सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ लगभग अनुमान हम उस समय का लगा सकते हैं, जब यह प्रक्रिया हो रही थी। इसका प्रारम्भ तो सामान्यतः उसी समय से हो जाना चाहिए जब दो जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आईं। पहले-पहल दोनों जातियों के लोगों के उन दलों में इक्के-दुक्के व्यक्तियों का मेल होता है, जो सबसे अधिक एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और उसके बाद यदि कोई बाह्य प्रतिबन्ध न लगाये जायँ तो यह प्रक्रिया फैलती जाती है। परन्तु इस सम्मिश्रण के फल व्यक्त होने में काफी समय लगता है। परिस्थितियों के अनुसार कभी कम या कभी

अधिक समय तक, इस सम्मिश्रण की प्रक्रिया के जारी रहने पर भी, दोनों जातियों को अपने-अपने अलग अस्तित्व का बोध रहता है। अतः सिन्धु-घाटी के लोगों के सम्बन्ध में भी सम्मिश्रण की प्रक्रिया का प्रारम्भ तो उसी समय हो गया होगा जब उनका आर्यों के साथ सम्पर्क हुआ; परन्तु दीर्घकाल तक उनका अलग अस्तित्व बना रहा। पिछले अध्याय में हमने अपना पर्यवेक्षण प्राचीन वैदिक साहित्य तक लाकर समाप्त कर दिया था। उसमें हमने देखा है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें वह प्रमाण मिलते हैं, जो इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण के द्योतक हैं। यह ठीक है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ ब्राह्मण पुरोहितों की रचनाएँ हैं, और किसी भी समाज का पुरोहितवर्ग सदा सर्वाधिक पुरातनवादी होता है। प्रत्येक नवीन विचार या रीति को वह संदेह की दृष्टि से देखता है और परम्परा का दृढ पक्षपाती होता है। इस कारण यह स्वाभाविक है कि यह वर्ग अपने ग्रन्थों में उन परिवर्त्तनों की उपेक्षा करे, जो इन दोनों जातियों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप धार्मिक और अन्य क्षेत्रों में हो रहे थे। फिर भी इन ब्राह्मण पुरोहितों तक की रचनाओं में रुद्र द्वारा अन्य देवताओं के आत्मसात् किये जाने के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। अतः यदि रुद्र ने सिन्धु-घाटी के देवता को उस समय तक आत्मसात् कर लिया होता तो इसका कोई-न-कोई संकेत हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में अवश्य मिलता; परन्तु इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। कोई ऐसा प्रासंगिक उल्लेख भी हमें नहीं मिलता है, जिससे हम यह अनुमान लगा सकें कि उस समय वैदिक आर्यों का सिन्धु-घाटी के लोगों के साथ सम्मिश्रण हो गया था। अतः हम इसी परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय तक यह सम्मिश्रण पूर्णरूप से व्यक्त नहीं हुआ था। इससे सम्मिश्रण की अवधि की पूर्व सीमा निर्धारित हो जाती है। इसकी दूसरी सीमा इस बात से निर्धारित होती है कि 'बौधायन-गृह्यसूत्र' में शिव और विष्णु की मूर्त्तियों का और उनकी उपासना-विधि का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय तक मूर्त्तिपूजा स्थापित हो चुकी थी। इसके साथ ही रुद्र की 'लिंग'-मूर्त्तियों का भी उल्लेख किया गया है, जिनकी साधारण मानवाकार मूर्त्तियों की तरह ही स्थापना और उपासना की जाती थी[१]। दोनों जातियों के सम्मिश्रण का और रुद्र की उपासना में लिंग-पूजा के समावेश का यह असंदिग्ध प्रमाण है। अतः जिस अवधि में वैदिक आर्यों का उनसे पूर्ववर्ती सिन्धु-घाटी के लोगों के साथ सम्मिश्रण हुआ और इसके परिणाम-स्वरूप एक नई और बहुमुखी भारतीय सभ्यता का धीरे-धीरे प्रादुर्भाव हुआ, उसे हम प्राचीनतम ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचनाकाल और 'गृह्यसूत्रों' के रचना-काल के बीच में रख सकते हैं। इसी अवधि में रुद्र की उपासना में उन नये अंशों का समावेश हुआ, जिनके कारण उसने अपर वैदिक शैव मत का रूप धारण किया। इस परिवर्त्तन-काल में, उत्तर-वैदिक साहित्य में (उपलब्ध सामग्री की सहायता से) रुद्र की उपासना के इतिहास का अध्ययन, हमारे अगले अध्याय का विषय होगा। इस अध्याय में जिन परिणामों पर हम पहुँचे हैं, उनसे उत्तर-वैदिक साहित्य में जो सामग्री हमें मिलेगी, उसको ठीक-ठीक समझने और उसका वास्तव में किस ओर संकेत है, यह जानने में हमें अधिक सुविधा रहेगी।

---

१. इस पुस्तक का तीसरा अध्याय देखिए।

तृतीय अध्याय

प्रथम अध्याय में प्राचीन वैदिक साहित्य के पर्यवेक्षण करने पर हमने देखा था कि रुद्र एक प्रमुख देवता के पद की ओर बड़ी शीघ्रता से बढ़ रहे थे, और उनकी उपासना का प्रचार उन ब्राह्मणों में हो रहा था, जो कर्मकांड के बन्धनों को तोड़कर वैदिक धार्मिक विचार-धारा में एक क्रांति उत्पन्न कर रहे थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों के बाद के वैदिक साहित्य में सबसे पहले हमें इन्हीं लोगों की विचार-पद्धति को दर्शानेवाले ग्रन्थ मिलते हैं—अर्थात् 'आरण्यक' और 'उपनिषद्'। इनमें से जो सबसे प्राचीन हैं, उनमें रुद्र का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। 'बृहदारण्यक' उपनिषद् में अन्य देवताओं के साथ एक-दो बार रुद्र का भी उल्लेख हुआ है; परन्तु इन ग्रन्थों की कमी को 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' पूरी कर देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से रुद्र के पद का कितना उत्कर्ष हो चुका था, यह इस उपनिषद् में स्पष्ट झलक जाता है। अब उनको सामान्य रूप से ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा जाता है[1]। वह मोक्षान्वेषी योगियों के ध्यान के विषय हैं और उनको एक स्रष्टा, ब्रह्म और परम आत्मा माना गया है[2]। एक श्लोक में उनके प्राचीन उग्र रूप का भी स्मरण किया गया है जिससे पता चलता है कि यह वही देवता हैं, जिनका परिचय हम संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में पा चुके हैं[3]। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' समय की दृष्टि से उपनिषद्-काल के मध्य में पड़ता है और इसमें रुद्र का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक उनका उत्कर्ष पूर्ण रूप से हो चुका था और वह जन-साधारण के देवता ही नहीं थे, अपितु आर्यों के सबसे प्रगतिशील वर्गों के आराध्यदेव भी बन चुके थे। इस रूप में उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचार-धारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद् के ऋषियों ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था। इसी कारण रुद्र की उपासना में कुछ कठोरता आ गई और अपर काल में शैव और वैष्णव मतों में जो मुख्य अन्तर था, वह शैव मत की यह कठोरता ही थी। अपर वैदिक काल में योगी चिन्तक और शिक्षक के रूप में शिव की जो कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी।

'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में वे अंकुर भी हैं, जिनसे बाद में सांख्यविचार-धारा प्रवाहित हुई। इस उपनिषद् के चौथे अध्याय में, संस्कृत-साहित्य में पहली बार विश्व की सक्रिय सर्जन शक्ति के रूप में प्रकृति का उल्लेख हुआ है। उसको पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति कहा गया है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है[4]। वह अनादि है, अतः पुरुष की समावर्तिनी है। वह रक्त वर्ण, श्वेत वर्ण और कृष्णवर्ण की है,

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् : ३, ११; ४, १०; ४, ११; ५, १४।
२. ,, ,, : ३, २-४; ३, ७; ४, १०-२४, इत्यादि।
३. ,, ,, : ३, ६।
४. ,, ,, : ४, १।

अतः त्रिगुणमयी है। वह जगत् की सृष्टि करनेवाली है[१]। पुरुष स्वयं स्रष्टा नहीं, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बना कर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप में स्थित रहता है[२]। यही तथ्य एक अन्य श्लोक में और भी स्पष्ट हो जाता है, जहाँ शक्ति अथवा प्रकृति को 'माया' कहा गया है और पुरुष केवल 'मायी' के रूप में ही स्रष्टा कहलाता है[३]। आगे चल कर जीव और पुरुष में इस प्रकार भेद किया गया है कि जीव भोक्ता है और प्रकृति द्वारा नियमित है[४]। उसकी मुक्ति तभी होती है जब उसे ब्रह्म साक्षात् होता है और वह प्रकृति अथवा माया के बन्धनों से छूट जाता है। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् के अन्तिम अध्याय के एक श्लोक से स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त को उस उपनिषद्-काल में भी सांख्य कहा जाता था। उस स्थल पर यह कहा गया है कि पुरुष को सांख्य और योग द्वारा ही जाना जा सकता है[५]।

अब 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में यह पुरुष अन्य कोई नहीं, रुद्र ही है जिनको शिव, और ईश भी कहा गया है। इससे पता चलता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगों के आराध्यदेवता बन गये थे जो सांख्य के सिद्धान्तों का विकास कर रहे थे। वे रुद्र को ही पुरुष अथवा परब्रह्म मानते थे। इससे महाभारत और पुराणों में शिव का सांख्य के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उसका समाधान हो जाता है और सम्भव है कि इसी से अपर काल में शैव-सिद्धान्त के विकास की दिशा भी निर्धारित हुई। यह भी एक रुचिकर बात है कि जिस उपनिषद् में पहली बार शिव को परब्रह्म माना गया है, उसी में सांख्य और सांख्य-प्रकृति का भी पहली बार निश्चित रूप से उल्लेख हुआ है। प्रायः प्रकृति की इस कल्पना का उद्गम प्राचीन वैदिक देवता 'वाक्' को माना जाता है। जिसको ऋग्वेद में साधारण प्रकार से देवताओं का बल और विश्व की प्रेरक शक्ति कहा गया है। हो सकता है कि कुछ चिन्तकों ने इस विचार को लेकर प्रकृति के उस रूप की कल्पना की हो, जिसका वर्णन 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में किया गया है। इसके साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि औपनिषदिक चिन्तकों ने अपने विचारों और सिद्धान्तों का विकास, शेष जगत् से अलग होकर, किसी शून्य में नहीं किया। सिन्धु-घाटी की खोजों ने कम-से-कम ऐसी धारणाओं का तो पूर्णतया खंडन कर दिया है, और यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक आर्यों का भारत और अन्य देशों की सभ्य जातियों के साथ अवश्य घनिष्ठ संबंध रहा होगा, और इनमें विचारों का परस्पर आदान-प्रदान भी उतना ही रहा होगा जितना अन्य भौतिक पदार्थों का। अतः हमें इस सम्भावना का भी ध्यान रखना चाहिए कि औपनिषदिक चिन्तकों का विचार कोई वैदिक आर्यों का इजारा नहीं था। यह भी हो सकता है

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् : ४, ५।
२. ,, ,, ,, : ४, ५।
३. ,, ,, ,, : ४, १०।
४. ,, ,, ,, : ४, ६।
५. ,, ,, ,, : ६, १३

कि इन लोगों के कुछ विचारों और मान्यताओं के विकास पर बाह्य प्रभाव पड़े हों। जब हम यह देखते हैं कि 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के कुछ स्थलों में शिव की प्रकृति शक्ति की कल्पना शिव की अध्यात्म पुरुष की कल्पना के साथ-ही-साथ विकसित हुई है, और जब हम यह स्मरण करते हैं कि शिव ने सिन्धु-घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लेने के फलस्वरूप, एक सहचर स्त्री देवता को प्राप्त कर लिया था, और इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध, दार्शनिक दृष्टिकोण से लगभग वही था जो 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में पुरुष और प्रकृति का है, तब इस बात की सम्भावना हो सकती है कि प्रकृति और द्वैतवादी सांख्य के विकास में, और उसके सहचर पुरुष देवता के स्वरूप के आधार पर स्थित स्त्री और पुरुष तत्त्वों के आदि द्वैत की कल्पना का कुछ हाथ रहा हो। यह ठीक है कि हम इसके विपरीत यह तर्क भी दे सकते हैं कि शिव का सांख्य-सिद्धान्तों के साथ जो सम्बन्ध हुआ, वह शिव के एक सहचर स्त्री-देवता प्राप्त करने का ही परिणाम था और इन दोनों को सांख्य का पुरुष और प्रकृति मान लेने से इनकी उपासना को एक दार्शनिक आधार मिल गया। जो कुछ भी हो, अब जब कि हमें सिन्धु-घाटी में देवी की उपासना के अस्तित्व का पता चला है और हम यह भी जानते हैं कि वह रुद्र की उपासना से सम्बन्धित हो गई, तब समीचीन यह जान पड़ता है कि सांख्य के सिद्धान्तों और उसके इतिहास का पुनरावलोकन किया जाय।

प्राचीन उपनिषदों में एक और संदर्भ है, जिसपर हमें विचार करना है। 'केन' उपनिषद् में कहा गया है कि देवताओं को ब्रह्म-ज्ञान 'उमा हैमवती' नाम की एक देवता ने कराया[1]। जिस प्रकार यह 'उमा हैमवती' प्रकट होती है और जो कुछ देवगण पहले नहीं देख सकते थे, वह उनको दिखाती है। इससे प्रतीत होता है कि उसकी कल्पना देवताओं की चेतनप्रज्ञा के रूप में किया गया था, और इस रूप में उसको प्राचीन वैदिक वाग्देवता का विकासमात्र माना जा सकता है, जिसका उल्लेख 'बृहदारण्यक' और दूसरे उपनिषदों में भी हुआ है[2]। परन्तु 'उमा' नाम और 'हैमवती' उपाधि से हमें तुरन्त अपरकालीन शिव की पत्नी का स्मरण होता है, जिसका भी एक नाम 'उमा' था और जिसे 'हिमवत्' की पुत्री माना जाता था। 'केन' उपनिषद् की 'उमा हैमवती' शिव पत्नी कैसे बनी, यह स्पष्ट नहीं है। सम्भव है, इस 'उमा हैमवती' को दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकृति माना जाता हो, और जब रुद्र की सहचरी देवता का भी इसी प्रकृति से आत्मसात् हुआ तो 'उमा' उसका एक नाम हो गया। उमा की उपाधि 'हैमवती' के कारण, जिसका प्रारम्भिक अर्थ सम्भवतः सुवर्णवर्णा अथवा सुवर्णमयी था, अपर काल में शिव की पत्नी को हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाने लगा। इसी रूप में उसका नाम पार्वती पड़ा, जो बाद में उनका सबसे प्रसिद्ध नाम हो गया।

प्राचीन उपनिषदों में 'श्वेताश्वतर' ही एक ऐसा उपनिषद् है, जिससे उस काल में रुद्र की उपासना के सम्बन्ध में हमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। अन्य उपनिषदों में अनेक

---

१. केनोपनिषद् : ३, १२।

२. बृहदारण्यक उपनिषद् : ६, १, ३।

प्रासंगिक उल्लेख मिलते हैं, जिनमें कुछ मनोरंजक है। 'मैत्रायणी' उपनिषद् में रुद्र का सम्बन्ध तमोगुण से और विष्णु का सतोगुण से किया गया है[१]। यह सम्भवतः रुद्र के प्रति प्राचीन विरोध-भावना के अवशिष्ट स्मृति का फल है। उधर 'प्रश्नोपनिषद्' में रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है[२] और प्रजापति से उसका तादात्म्य किया गया है। स्वयं 'मैत्रायणी' उपनिषद् में एक अन्य स्थल पर, रुद्र और आत्मा को एक ही माना गया है, और रुद्र की एक उपाधि 'शंभु' अर्थात् 'शान्तिदाता' का भी पहली बार उल्लेख हुआ है, जो अपर काल में भगवान् शिव का एक अत्यन्त प्रचलित नाम हो गया[३]। उसी उपनिषद् के एक तीसरे स्थल पर विख्यात गायत्री मन्त्र में 'भर्ग' का संकेत रुद्र की ओर माना गया है[४]। इन सब उल्लेखों से 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में जो कुछ कहा गया है, उसी की पुष्टि होती है।

रुद्र-सम्बन्धी अन्य उल्लेख केवल छोटे उपनिषदों में मिलते हैं, जो प्रमुख उपनिषदों की अपेक्षा काफी बाद के हैं, और इस कारण यहाँ उनकी उपयोगिता नहीं है।

'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में हमने रुद्र की उपासना का दार्शनिक रूप देखा। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों का विकास हो रहा था, उसी समय जन-साधारण के धार्मिक आचार-विचार में भी एक नई परिपाटी का प्रारम्भ हुआ। यह थी—भक्तिवाद की परिपाटी। कुछ अंशों में इस भक्तिवाद का उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा से गहरा सम्बन्ध था; क्योंकि इसके ही मूल में जो दो तत्त्व थे—अर्थात् एक परमेश्वर में विश्वास, और इस परमेश्वर की प्रार्थना और स्तुतियों द्वारा उपासना—उनका प्रादुर्भाव इसी दार्शनिक विचारधारा के विकास का फल था। प्राचीन बहुदेवतावाद को अस्वीकार करके और एक परब्रह्म की कल्पना करके उपनिषद् द्रष्टाओं ने धर्म में निश्चित रूप से एकेश्वरवाद की स्थापना कर दी। उधर ब्राह्मणों के कर्मकांड के प्रभाव में आकर, प्राचीन देवतागण किस प्रकार श्रीहीन हो गये थे, यह प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है। वैदिक देवताओं की इस प्रकार अवनति होने पर केवल दो देवता ही बचे थे जिनका गौरव और महत्त्व बढ़ा। ये थे विष्णु और रुद्र, और इन्हीं की सबसे अधिक उपासना होने लगी। अतः जब उपनिषदों के एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ, तब इन दोनों देवताओं के उपासकों ने अपने-अपने आराध्यदेव को परब्रह्म और परमेश्वर मानना प्रारम्भ कर दिया। शिव का यह स्वरूप हमने 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में देखा है। इसी समय विष्णु को भी उनके उपासक इसी रूप में देखने होंगे, यह बहुत संभव है। इसके अतिरिक्त उपनिषद् द्रष्टाओं ने ब्राह्मणों के कर्म-कांड को अस्वीकार करके अध्यात्म, ध्यान, और बुद्धि की एकाग्रता पर अधिक जोर दिया। इसके साथ साथ उपनिषदों के अध्ययन से

---

१. मैत्रायणी उपनिषद् : ४, ५।

२. प्रश्नोपनिषद् : २, ९।

३. मैत्रायणी उपनिषद् : ५, ८।

४. ,, ,, : ५, ७।

हम यह भी देख सकते हैं कि उनके द्रष्टा ब्राह्मणग्रन्थों को छोड़ कर प्राचीन वैदिक संहिताओं का सहारा लेते हैं, मानों उनकी धारणा यह रही हो कि इन संहिताओं के विशुद्ध सिद्धान्तों और आचारों को ब्राह्मण पुरोहितों ने बिगाड़ दिया था। इसका फल यह हुआ कि लोगों का ध्यान ब्राह्मण कर्मकांड से हटकर फिर संहिताओं की ओर चला गया। इस प्रकार उपनिषद्-काल में प्राचीन ब्राह्मणग्रन्थों के कर्मकांड की परिपाटी के स्थान पर लोगों में एक नई प्रकार की उपासना का प्रचार हुआ, जिसका सार था एकेश्वर का ध्यान और उसमें अनन्त भक्ति। इस एकेश्वर की उपासना के साधन बने—प्रार्थना और भजन, और प्रार्थना और भजन के आदर्श बने—संहिताओं के सूक्त। इस प्रकार भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ और धीरे-धीरे इसने प्राचीन कर्मकांड का पूरी तरह स्थान ले लिया। और चूंकि यह भक्तिवाद शिव और विष्णु की उपासना को लेकर ही आगे बढ़ा, इस कारण ये दोनों ही इस नवीन धार्मिक परिपाटी के मुख्य देवता बन गये।

भक्तिवाद का जन्म यद्यपि उपनिषद्-काल में ही हो गया था, फिर भी इसका पूर्ण प्रचार उपनिषद्-काल के बाद ही हुआ। सदा की भाँति जब एक धार्मिक परिपाटी का स्थान दूसरी धार्मिक परिपाटी लेती है, तब कुछ समय तक नई और पुरानी परिपाटियाँ दोनों साथ-साथ चलती हैं, अतः दोनों साथ-साथ चलती रहीं। यद्यपि 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' के एक श्लोक से यह भासता है[1] कि उस समय भी रुद्र भक्तिवाद के देवता माने जाने लगे थे, फिर भी कुछ समय तक उनके प्राचीन स्वरूप की स्मृति और तदुपासना-सम्बन्धी विधियाँ बनी रहीं। यह हमको श्रौत, धर्म और गृहस्थ सूत्रों से पता चलता है। इस परिवर्तन-काल में जनसाधारण में रुद्र की उपासना का क्या स्वरूप था, वह इन सूत्रों से प्रकट हो जाता है।

'श्रौत सूत्र' ब्राह्मण कर्मकांड के सारांश मात्र हैं और इस कर्मकांड के मुख्य यज्ञों के साथ उनका सम्बन्ध है। इस कारण ब्राह्मण कर्मकांड के क्षेत्र से बाहर धार्मिक आचार-विचार में जो विकास हो रहा था, उसकी झलक साधारण रूप से इन सूत्रों में दिखाई देने का अवसर नहीं है। अतः रुद्र की उपासना का जो स्वरूप हमें श्रौत सूत्रों में दिखाई देता है, वह प्रायः वैसा ही है जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में। वह अनेक देवताओं में से केवल एक देवता हैं, और पहले की तरह रुद्र, भव, शर्व आदि उनके अनेक नामों का उल्लेख होता है[2] और इसी प्रकार महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उनकी अनेक उपाधियों का भी उल्लेख होता है[3]। मनुष्यों और पशुओं की रक्षा के लिए रुद्र से प्रार्थना की जाती है[4]। उनको व्याधि-निवारक कहा गया है[5], और रोगनाशक ओषधियों का देनेवाला[6]। 'अम्बक' नाम से उनको विशेष हवियाँ दी जाती हैं[7], जो ब्राह्मणग्रन्थों

---

१. श्वेताश्वतर उप० : ६, १३।
२. शांखायन श्रौत सूत्र : ४, १६, १।
३. ,, ,, ,, : ४, २०, १४।
४. ,, ,, ,, : ४, २०, १; आश्वलायन ३, ११, १।
५. ,, ,, ,, : ३, ४, ८।
६. लाठ्यायन श्रौत सूत्र : ५, ३, २।
७. शांखायन श्रौत सूत्र : ३, १७, २०-११।

के समय में दी जाती थीं। एक स्थल पर रुद्र को समर्पित मूषक का भी उल्लेख किया गया है[1]। रुद्र और अग्नि को तादात्म्य की स्मृति भी अबतक शेष है और रुद्र को एक बार 'अग्निस्विष्टिकृत' कहा गया है[2]। शांखायन श्रौत सूत्र में रुद्र के लिए किये जानेवाले एक विशेष यज्ञ का भी उल्लेख किया गया है, जो ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं है, यद्यपि उस समय भी वह रहा अवश्य होगा[3]। 'गृह्य सूत्रों' में इसका अधिक विस्तृत वर्णन मिलता है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यह इतना श्रौत सूत्रों का नहीं, जितना गृह्य सूत्रों का विषय था; और इसी कारण शायद ब्राह्मणग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं किया गया। इस यज्ञ का उद्देश्य था, 'स्वस्ति'—अर्थात् प्रेम और वैभव की प्राप्ति। शुक्लपक्ष में एक निश्चित तिथि पर उत्तर-पूर्व दिशा में रुद्र को एक गौ की बलि दी जाती थी। गृह्य सूत्रों का निरीक्षण करने पर हम इस यंत्र का अधिक विस्तार से विवेचन करेंगे। इस समय जो ध्यान देने योग्य बात है, वह यह है कि 'शांखायान श्रौत सूत्र' के इस संदर्भ में रुद्र का जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, उसका एक अंश ऐसा है जिसका ब्राह्मणग्रन्थों में कोई उल्लेख नहीं है। इससे हमें यह पता चलता है कि इस समय रुद्र के स्वरूप का विकास किस प्रकार हो रहा था। यह है रुद्र की सहचर स्त्री देवता का उल्लेख। उसको भवानी, शर्वानी, ईशानी, रुद्राणी और आग्नेयी कहा गया है। यह सब रुद्र के विभिन्न नामों के स्त्रीलिंग रूप मात्र हैं। यज्ञ में इस स्त्री देवता को हवियाँ देने का भी विधान किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि इस समय तक इस स्त्री देवता को भी आर्यों के देवगण में विधिवत् गणना होने लगी थी और रुद्र के साथ ही इसकी भी उपासना होती थी। प्राचीन ग्रन्थों में रुद्र-पत्नी का यह प्रथम उल्लेख है। पिछले अध्याय में जो कुछ कहा गया है, इसका ध्यान रखते हुए, हम यह कह सकते हैं कि 'शांखायन श्रौत सूत्र' के समय तक सिन्धु-घाटी की देवी की उपासना का रुद्र की उपासना में समावेश हो गया था।

'शांखायन श्रौत सूत्र' के इसी संदर्भ में हमें रुद्र के गणों का उल्लेख भी मिलता है। यजुर्वेद के 'शतरुद्रिय' सूक्त में भी इन गणों का उल्लेख हुआ है और याद होगा कि वहाँ इनका संकेत रुद्र के उपासकों की ओर था। परन्तु इस संदर्भ में उनकी कुछ उपाधियाँ ऐसी हैं, जिनसे पता चलता है कि सूत्रकार का अभिप्राय रुद्र के उपासकों से नहीं है। यह उपाधियों—'अघोषिण्यः,' 'प्रतिघोषिण्यः', 'संघोषिण्यः' और इन सब—का लक्ष्य गणों के घोष अर्थात् गर्जन या धूत्कार से है। इसके अतिरिक्त उनको 'क्रव्यादः' (मृतमांस-भक्षी) भी कहा गया है, जिससे यह गण निश्चित रूप से भूत, पिशाच, कटप आदि के श्रेणी में आ जाते हैं। स्मरण रहे कि 'अथर्ववेद' में इन्हीं भूत, पिशाचादि के निवारणार्थ रुद्र का आह्वान किया जाता था और इस प्रकार रुद्र का इनके साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसी से बढ़ते-बढ़ते यह माना जाने लगा कि यह भूत-पिशाच आदि रुद्र के

---

१. लाट्यायन : ५, ३, २।

२. शांखायन श्रौत सूत्र : ४, २६, १।

३. शांखायन श्रौत सूत्र : ४, १७-२०।

अनुयायी हैं। स्वयं अथर्ववेद के एक मंत्र में [1] भी रुद्र के गणों के घोष का उल्लेख किया गया है, और हो सकता है कि यह इन गणों का संकेत इन्हीं भूत-पिशाचों की ओर हो। 'शांखायन श्रौत सूत्र' में इनके उल्लेख का महत्त्व यह है और इससे पता चलता है कि रुद्र के एक रूप का सम्बन्ध अभी तक जनसाधारण के अन्ध-विश्वासों से था। 'गृह्य सूत्रों' में यह बात और भा स्पष्ट हो जायगी।

रुद्र की उपासना का जो स्वरूप 'श्रौत सूत्रों' में मिलता है, लगभग वही स्वरूप 'धर्म-सूत्रों' में भी है, जो समकालीन हैं। सदा की तरह रुद्र के अनेक नामों का उल्लेख किया गया है। 'बौधायन धर्म-सूत्र' से रुद्र और रुद्र की सहचर स्त्री देवता के लिए अनेक तर्पणों का विधान किया गया है, और इस स्त्री देवता को स्पष्ट रूप से रुद्र की पत्नी कहा गया है [2]। रुद्र के गुणों के स्वरूप में कुछ विकास हुआ है। अब उनमें स्त्री-गुण भी हैं, और इन गुणों को 'पार्षद' और 'पार्षदी' कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसी धर्म-सूत्र में दो बिलकुल नये देवताओं का भी उल्लेख किया गया है, जिनके स्वरूप और इतिहास का हमें विशेष रूप से अध्ययन करना है; क्योंकि अपर काल में इनका शिव के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था। इनमें पहला देवता विनायक हैं, जिनकी आगे चलकर 'गणेश' नाम से ख्याति हुई [3]। 'तैत्तिरीय आरण्यक' में एक श्लोक हैं, जो प्रसिद्ध गायत्री मंत्र के ढंग पर ही बनाया गया है। इसके देवता का 'वक्रतुण्ड' और 'दन्तिः' कह कर वर्णन किया गया है, और तत्पुरुष से उसका तादात्म्य किया गया है [4]। परन्तु इसके उपरान्त 'बौधायन धर्म-सूत्र' के समय तक न तो इस आरण्यक में ही और न कहीं अन्यत्र ही इस देवता का उल्लेख किया गया है। इस धर्म-सूत्र में इस देवता को विधिवत् मान्यता प्रदान की गई है, और इसके लिए तर्पणों का विधान किया गया है। उसको 'वक्रतुंड और 'एकदन्त' के अतिरिक्त 'हस्तिमुख', 'लम्बोदर', 'स्थूल' और 'विघ्न' भी कहा गया है। इन सब उपाधियों से यह निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है जो बाद में गणेश कहलाया, यद्यपि इसका यह नाम यहाँ नहीं दिया गया है।

'विघ्न' उपाधि से इस देवता के स्वरूप का पता चलता है। जैसा कि आगे चलकर 'गृह्य-सूत्रों में स्पष्ट हो जायगा कि इस देवता को प्रारम्भ में विघ्नों और बाधाओं का देवता माना जाता था, और इन्हीं विघ्नों तथा बाधाओं के निवारण के लिए उससे प्रार्थना की जाती थी। इस देवता के 'पार्षदों' और 'पार्षदियों' का भी उल्लेख किया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि इसकी उपासना किसी-न-किसी रूप में रुद्र की उपासना के साथ सम्बद्ध थी। अपरकालीन साहित्य में गणेश को शिव का पुत्र माना गया है और इस सूत्र में भी एक रुद्र सूत्र का उल्लेख किया गया है [5]। परन्तु यह रुद्र-सुत 'वक्र-तुण्ड' ही है, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण यहाँ नहीं मिलता।

---

१. अथर्ववेद : ११, २, ११।
२. बौधा० धर्म-सूत्र : २, ५, ६।
३. ,, ,, ,, : २, ५, ७।
४. तैत्तिरीय आ० : १०, १।
५. बौधा० धर्म-सूत्र : २, ५, ६ अपिच शांखा० श्रौतसूत्र ४, २०, १।

इसी सूत्र में जिस दूसरे देवता का उल्लेख हुआ है, वह है स्कन्द[1]। विनायक की तरह इस देवता के लिए भी तर्पणों का विधान किया गया है, और इसी से पता चलता है कि इसको भी विनायक के समान ही विधिवत् मान्यता प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में ही इसके अन्य नामों का भी उल्लेख किया गया है जैसे 'षण्मुख', 'जयन्त', 'विशाख', 'सुब्रह्मण्य' और 'महासेन'। इन नामों से निश्चित हो जाता है कि यह वही देवता है जो आगे चलकर 'कार्तिकेय, नाम से प्रसिद्ध हुआ। परन्तु इस देवता के विषय में कुछ और नहीं कहा गया है और इस एक संदर्भ से उसका रुद्र के साथ क्या सम्बन्ध था, यह हम नहीं जान सकते।

सूत्र काल में जन-साधारण के धार्मिक आचार-विचारों के विषय में हमें सबसे अधिक जानकारी गृह्यसूत्रों से प्राप्त होती है। इन सूत्रों का सम्बन्ध प्रधानतया गृहस्थ की विधियों से है, अतः श्रौत अथवा धर्मसूत्रों की अपेक्षा इन्हीं गृह्यसूत्रों में उस समय के जन-साधारण के धार्मिक मान्यताएँ और रीति-रिवाज अधिक स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होते हैं। रुद्र की उपासना के विषय में, गृह्यसूत्रों से हमें मूल्यवान सामग्री मिलती है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि एक ओर रुद्र ने दार्शनिकों के परब्रह्म का पद पाया था, तो दूसरी ओर उनकी उपासना का जनसाधारण के सरल विश्वासों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। वास्तव में रुद्र के आदि स्वरूप की स्मृति को कभी भी पूर्णरूपेण मिटाया न जा सका, और किसी-न-किसी रूप में सदा ही उनके आदि स्वरूप की उपासना होती ही रही, जिसके इर्द-गिर्द जनसाधारण की सरल धार्मिक भावनाएँ और विश्वास केन्द्रित थे। गृह्य-सूत्रों में रुद्र की उपासना का यही पहलू प्रमुख है। उनको साधारणतया रुद्र कहा गया है और उनकी सभी पुरानी वैदिक उपाधियों का उल्लेख हुआ है[2], यद्यपि उनके नये नाम 'शिव' और 'शंकर' अब अधिक प्रचलित होते जा रहे हैं[3]। कभी-कभी उनको 'पृषतक' भी कहा गया है, जिसका संकेत उनमें प्राचीन हिंसक रूप की ओर है[4]। उनको साधारण रूप से वृक्षों, चौराहों, पुण्य तीर्थों और श्मशानों यानी ऐसे सभी स्थलों में अकेले विचरनेवाला माना गया है, जहाँ लोगों का अनिष्ट हो सकता है, और इसी अनिष्ट के निवारणार्थ उनकी आराधना की जाती है[5]। श्मशानों से रुद्र का सम्बन्ध, यहाँ ध्यान देने योग्य है; क्योंकि आगे चलकर भगवान् शिव के स्वरूप के विकास पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल में रुद्र को मृत्यु-सम्बन्धी देवता माना जाता था, उसी के फलस्वरूप जनसाधारण के मत में श्मशानों से उनका यह सम्बन्ध हुआ, ऐसा प्रतीत होता है।

रुद्र के स्तवन से क्षेत्र और समृद्धि प्राप्त होती है, ऐसा इस समय लोगों का विश्वास

---

१. बौधा० धर्म-सूत्र : २, ५, ८।

२. आश्वलायन गृह्य-सूत्र : ४, १०।

३. ,, ,, : २, १, २।

४. ,, ,, : २, १, २ ; मानव गृह्य० २,३,५ ; बौधायन धर्मसूत्र, ७, १० में भी रुद्र को 'विशान्तक' कहा गया है।

५. मानव गृह्यसूत्र : २, १३, ६-१४।

था। इसी उद्देश्य से 'शूलगव' यज्ञ का विधान किया गया है [1]। यह मुख्यतः एक गृह्यविधि थी और गृह्य सूत्रों में इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। वसन्त अथवा हेमन्त ऋतु में शुक्ल पक्ष में यह यज्ञ किया जाता था। इसका स्थान वन में अथवा कम-से-कम नगर या अन्य बस्ती से पर्याप्त दूरी पर, यजमान के आवास से उत्तर-पूर्व दिशा में होता था। इस स्थान पर यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर, वेदी पर दूर्वा बिछा कर, एक गाय की विधिवत् बलि रुद्र को दी जाती थी। वध्य पशु के रुधिर से आठ छोटे पात्र भरे जाते थे। फिर रुधिर को आठ दिशाओं में (चार प्रधान और चार मध्यवर्ती) छिड़क दिया जाता था और प्रत्येक वार 'शतरुद्रिय' के पहले मंत्र से प्रारम्भ होनेवाले एक-एक अनुवाक का पाठ किया जाता था। तदनन्तर वध्य पशु की खाल उतारी जाती थी, और उसके हृदय आदि भीतरी अंगों को निकाल कर रुद्र पर चढ़ाया जाता था। अन्त में रुद्र से यजमान के प्रति कल्याणकारी रहने की प्रार्थना की जाती थी। इस विचित्र यज्ञ के दो अंश विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं। पहला तो यह कि इस यज्ञ को बस्ती से दूर जाकर करना पड़ता था, मानों यह कुछ भयावह अथवा रहस्य-मय हो। इससे पता चलता है कि यह यज्ञ सामान्य कर्मकाण्ड से अलग एक विशेष संस्कार था, जिसको वास्तव में एक प्रकार का गुप्त टोना अथवा टोटका कहना चाहिए। फिर भी सूत्र-ग्रंथों में ही हमें इस बात के प्रमाण भी मिल जाते हैं कि यद्यपि ऐसे संस्कारों को साधारणतया गर्हित समझा जाता था, तथापि विशेष परिस्थितियों में और विशेष उद्देश्यों के लिए इनका कभी-कभी विधान भी किया जाता था। 'अथर्ववेद' में हम रुद्र का जनसाधारण के अन्य विश्वासों और जादू आदि से जो सम्बन्ध था, वह देख चुके हैं। अतः यह नितान्त सम्भव है कि इस रूप में रुद्र को अभी तक वैसा ही भयावह और रहस्यमय देवता माना जाता था जैसा कि अथर्ववेद में उन्हें माना जाता था। यह भी सम्भव है कि आदिम जातियों के कुछ आर्येतर देवताओं को आत्मसात् करने के फलस्वरूप रुद्र के इस रूप का कुछ विकास भी हुआ हो।

इस यज्ञ का ध्यान देने योग्य दूसरा अंश है -- गाय की बलि। भारत में अति प्राचीन काल से ही गाय को पवित्र माना जाने लगा था और 'अथर्ववेद' तक में गो-हत्या को पाप माना गया है। जैसे-जैसे समय बीतता गया, गोहत्या का निषेध और भी कड़ा होता गया। कभी-कभी इस निषेध का अपवाद भी होता था, विशेषतः ऐसी विधियों में जो अति प्राचीन काल से चली आती थीं और समय ने जिनको पुनीत बना दिया था। उदाहरण के लिए सम्मानित अतिथियों को मधुपर्क दान, जब कि गो-बलि साधारण ही नहीं, अपितु विहित भी थी [2]। परन्तु साधारण यज्ञों और अन्य संस्कारों में गायों और बैलों को बलि देने की प्रथा बहुत पहले ही बन्द हो गई थी। इसीलिए जब इस यज्ञ में हम अबतक गो बलि का विधान पाते हैं, तब यह इस बात का एक और संकेत है कि इस रुद्र के इस रूप की उपासना ब्राह्मण-धर्म का अंग नहीं थी।

---

१. मानव गृह्य-सूत्र : २, ५; बौधायन गृ० सू० १, २, ७, १-३; आश्वलायन गृ० सू० ४, १०।

२. मानव गृह्य-सूत्र : ६, १, २।

'गृह्य-सूत्रों' में मुख्य रूप से रुद्र के उसी रूप का उल्लेख किया गया है, जिसमें जन-साधारण में उनकी उपासना होती थी। फिर भी सूत्रकार, रुद्र के विकास होनेवाले दार्शनिक स्वरूप, जैसा कि उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है, से अनभिज्ञ नहीं थे।

'बौधायन गृह्य-सूत्र' में इसी 'शूलगव यज्ञ' के वर्णन में एक स्थल पर रुद्र को विश्व-व्यापी परम ब्रह्म माना गया है [१]। आगे चलकर एक अन्य स्थल पर रुद्र को फिर आदि पुरुष और विश्वस्रष्टा कहा गया है [२]। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गृह्य-सूत्रों के समय तक रुद्र का वह द्विविध स्वरूप स्थापित हो चुका था—दार्शनिक और जनसाधारण-सम्मत, जो बाद में बराबर बना रहा।

गृह्य-सूत्रों में रुद्र की पत्नी और रुद्र के पुत्र अथवा पुत्रों का भी लगभग उसी प्रकार उल्लेख किया गया है, जिस प्रकार धर्म-सूत्रों में [३]। परन्तु गृह्य-सूत्रों से जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वह है जो रुद्र की उपासना में एक बिलकुल नई प्रवृत्ति पर प्रकाश डालती है—मूर्त्ति-पूजा। गृह्य-सूत्रों में प्रथम बार रुद्रादि देवताओं की मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापन और पूजन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण धर्म में मूर्त्ति-पूजा का समावेश किस प्रकार हुआ, इसकी ओर पिछले अध्याय में संकेत किया जा चुका है। बौधायन गृह्य-सूत्र में रुद्र की ही नहीं, अपितु विष्णु की मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापन का भी विधान किया गया है [४]। इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक मूर्त्ति-पूजा रुद्र और विष्णु की उपासना का एक अंग बन गई थी। इसी सूत्र में एक बार 'देवागार' का भी उल्लेख किया गया है [५] और जब मूर्त्तियों का निर्माण होने लगा था, तब इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय तक देवालय भी बनने लगे होंगे। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में पहली बार शिवलिंग का भी उल्लेख हुआ है, जिस अध्याय में रुद्र की मूर्त्तियों के प्रतिष्ठापन का वर्णन किया गया है, वहाँ मानवाकार मूर्त्तियों के साथ साथ लिंग-मूर्त्तियों का भी वर्णन किया गया है जिनका कोई आकार नहीं होता था [६]। इससे सिद्ध होता है कि 'बौधायन गृह्य-सूत्र' के समय तक रुद्र की उपासना लिंग-रूप में भी होने लगी थी। इन लिंग-मूर्त्तियों का सम्बन्ध प्रारम्भ में जननेन्द्रिय से था, इस तथ्य का ज्ञान उस समय लोगों का था या नहीं, यह स्पष्ट नहीं होता। परन्तु 'लिंग' नाम से ही, और चूँकि महाभारत में इस सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से माना गया है, हम यह कह सकते हैं कि 'बौधायन गृह्य-सूत्र' के समय में भी इस सम्बन्ध का ज्ञान लोगों का था। परन्तु इस लिंग मूर्त्ति की उपासना-विधि बिलकुल नई थी और प्राचीन जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। 'लिंग' को केवल भगवान् शिव का एक प्रतीक माना जाता था, और उसकी उपासना फल, फूल आदि द्वारा

१. बौधायन गृह्य-सूत्र : १, २, ७, २३।
२. ,, ,, : ३, २, १६, ३९।
३. ,, ,, : १, २, ७।
४. ,, ,, : ३, २, १३, १६।
५. ,, ,, : ३, ३, ९, ३।
६. ,, ,, : ३, २, १६, १४।

ठीक उसी प्रकार की जाती थी जिस प्रकार उसकी मानवाकार मूर्त्तियों की। इससे पता चलता है कि रुद्र का 'लिंगोपासना' के साथ सम्बन्ध अब बहुत प्राचीन हो गया था, और लिंग-मूर्त्ति के आदिम जननेन्द्रिय-सम्बन्धी स्वरूप को अब बिलकुल मिटा दिया गया था। यह इस बात का द्योतक है कि उस समय तक सिन्धु-घाटी की जाति का आर्य जाति के साथ पूर्णरूप से सम्मिश्रण हो चुका था।

गृह्य-सूत्रों में रुद्र की पत्नी को जो स्थान दिया गया है, उससे भी यही सिद्ध होता है कि इस समय तक सिन्धु-घाटी के निवासी आर्य जाति के साथ मिल चुके थे। रुद्र की पत्नी अब एक स्वतन्त्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। रुद्र की मूर्त्तियों की प्रतिष्ठापन विधियों के साथ-साथ इस स्त्री-देवता के पूजन की विधियाँ भी बताई गई हैं, और पहली बार उसको 'दुर्गा' कहा गया है[1]। यद्यपि उसकी मूर्त्तियों का कोई सीधा उल्लेख नहीं किया गया है, तथापि देवी के स्नान आदि का जो विधान किया गया है, उससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसकी मूर्त्तियाँ भी अवश्य बनाई जाती होंगी। इस देवी के स्वरूप का पता हमें उसकी उपाधियों से चलता है, जो 'आर्या', 'भगवती', 'देवसंकीर्ति' आदि है। इनसे सिद्ध होता है कि इस देवी को उच्च कोटि का देवता माना जाता था और उसका कीर्तिगान अन्य देवता भी करते थे। 'महाकाली', 'महायोगिनी' और 'शंखधारिणी' उपाधियाँ भी इसे दी गई हैं, और इनसे पता चलता है कि इस देवी का स्वरूप लगभग वैसा ही था जैसा आगे चलकर 'दुर्गा' का हुआ। इसके अतिरिक्त एक और उपाधि 'महापृथ्वी' से यह स्पष्ट पता चलता है कि प्रारम्भ में यह देवी, पृथ्वी देवता ही थी। दूसरी ओर इसकी एक अन्य उपाधि 'मनोगमा', इस बात की ओर संकेत करती है कि इस देवी के स्वरूप के दार्शनिक पहलू का भी विकास हो रहा था और इस रूप में इस देवी के साक्षात्कार के लिए ध्यान और योगाभ्यास आवश्यक थे। सम्भवतः इस समय तक इस देवी का उपनिषदों की शक्ति से तादात्म्य हो गया था। यहाँ तक ही नहीं, उसकी एक उपाधि 'महावैष्णवी' से तो यह पता चलता है कि इस समय तक इस देवी को रुद्र की शक्ति ही नहीं, अपितु अन्य देवताओं की शक्ति भी माना जाता था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि देवी को हविः देते समय जिन मन्त्रों का पाठ होता था, वे सब अग्नि अथवा 'आपवः' सम्बन्धी प्राचीन श्रुतियाँ हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय ऋषियों को देवी की उपासना के लिए मन्त्र ढूँढ़ने में कठिनाई हो रही थी। इसका कारण यह था कि ऐसे मन्त्र प्राचीन श्रुतियों में थे ही नहीं। आर्य धर्म में देवी की उपासना के विदेशीय होने का यह एक और प्रमाण है। गृह्यसूत्रों में रुद्र की मानवाकार और लिंगाकार मूर्त्तियों का एक साथ उल्लेख किये जाने का ऐतिहासिक महत्त्व है। इससे पिछले अध्याय के हमारे उस कथन की पुष्टि होती है कि भारतवर्ष में मूर्त्तिपूजा और देवालय-निर्माण का उद्भव सिन्धु-घाटी की सभ्यता के प्रभाव पड़ने से हुआ। चूंकि लिंग-प्रतीकों की उपासना का उद्भव भी उसी प्रभाव के अन्तर्गत और उसी समय हुआ था, अतः भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में इन

---

१. बौधायन गृह्य-सूत्र : ३, ३, ३।

दोनों का उल्लेख लगभग साथ-साथ होना चाहिए और यही हम गृह्यसूत्रों में पाते हैं। इसलिए मूर्त्तिपूजा और देवालय-निर्माण के उद्भव के सम्बन्ध में हमने जो सुझाव दिया है, वह ठीक प्रतीत होता है।

गृह्यसूत्रों में रुद्र और रुद्र-पत्नी की उपासना के विकास के सम्बन्ध में तो हमें उपर्युक्त मूल्यवान् सामग्री मिलती ही है। इसके साथ-साथ इन्हीं ग्रन्थों से उस रहस्यमय देवता विनायक के सम्बन्ध में भी, जिसका एक अलग उल्लेख धर्मसूत्रों में किया गया है, अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है और इनसे इस देवता के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में 'विनायक' एक जातिवाचक नाम था, जो जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के अनुसार राक्षसों के एक गण-विशेष के लिए प्रयुक्त होता था। 'मानव-गृह्यसूत्र' में एक स्थल पर एक नहीं, चार विनायकों का उल्लेख किया गया है[1]। उनके नाम हैं—'शालकटंकट', 'कूष्माण्ड राजपुत्र', 'उस्मित' और 'देवयजन'। इनको अहितकारी जीव माना गया है। जिन मनुष्यों पर इनका प्रभाव पड़ता है, वे पागलों की तरह आचरण करते हैं—उनको स्वप्नों में अशुभ लक्षण दिखाई पड़ते हैं और उनको सदा ऐसा लगता है मानों कोई उनका पीछा कर रहा हो। इन विनायकों के दुष्प्रभाव से राजकुमारों को राजगद्दी नहीं मिलती, विवाहाभिलाषिणी कन्याओं को वर नहीं मिलते, स्त्रियाँ शीलवती होते हुए भी पुत्रविहीना रह जाती हैं, विद्वानों को सम्मान नहीं मिलता, विद्यार्थियों के अध्ययन में अनेक बाधाएं पड़ती हैं, व्यापारियों को व्यापार में हानि होती है और किसानों की खेती नष्ट हो जाती है। संक्षेप में यह विनायक सामान्य रूप से उत्पाती जीव माने जाते थे और मनुष्यों के साधारण व्यापार में उनके कारण बाधाएँ न पड़ें, इस उद्देश्य से, उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न किया जाता था। इसके लिए जो विधियां बताई गई हैं, उनमें जादू-टोनों का पुट अधिक है और उनका स्वरूप स्पष्ट ही अथर्ववेदीय है। इससे पता चलता है कि ये 'विनायक' जनसाधारण के प्रचलित विश्वासों के क्षेत्र के जीव थे। यह विधियाँ तम-निवारक सूर्य के स्तवन के साथ समाप्त होती थीं, और इससे हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि विनायकों को अन्धकार और नदी के जीव माना जाता था।

इन चार विनायकों का फिर और कहीं उल्लेख नहीं हुआ है; परन्तु 'बौधायन गृह्य-सूत्र' में एक विनायक की अर्चना का विधान किया गया है[2]। यह विनायक वही है जिसका उल्लेख 'बौधायन धर्म-सूत्र' में भी हुआ है। इस विनायक और उपर्युक्त चार विनायकों में क्या सम्बन्ध था, इसको स्पष्ट नहीं किया गया। परन्तु नाम के साम्य के साथ-साथ इस विनायक के गुण भी वैसे ही हैं जैसे उन चार विनायकों के। हाँ, उन गुणों में कुछ थोड़ी-बहुत वृद्धि हो गई है। विघ्नकारी से बढ़कर अब यह विनायक विघ्नपति हो गया है, और विघ्नों के नाश के लिए तथा फिर सामान्य रूप से सफलता के लिए अब उससे प्रार्थना की जाती है। उसके स्वरूप के वर्णन में अब प्रशंसा-सूचक

१. मानव गृह्य-सूत्र : २, १४।

२. बौधायन गृह्य-सूत्र : ३, ३, १०।

वाक्यों और उपाधियों का प्रयोग अधिक होता है। परन्तु, जिस स्तोत्र द्वारा इसकी अर्चना की गई है, उसके अन्तिम श्लोक में विधिवत् अर्चना के उपरान्त उससे दूर चले जाने की जो प्रार्थना की गई है, उसीसे इस विधि के वास्तविक उद्देश्य का पता चलता है, जो एक अहितकारी और भयावह जीव को उपासक से दूर रखना था। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह विनायक भी विनायकगण में से एक था, और प्रारम्भ में मानों अपने गण के प्रतिनिधि के रूप में इसकी उपासना होती थी। अर्थात्—इस एक विनायक की संतुष्टि से समस्त विनायकगण की संतुष्टि हो जायगी, ऐसा माना जाता था। परन्तु कालान्तर में इसके इस प्रतिनिधि रूप की स्मृति क्षीण होती गई, और उसको एक स्वतन्त्र देवता माना जाने लगा। धर्मसूत्रों में वर्णित और 'हस्तिमुख', 'वक्रतुण्ड' आदि उपाधियों-जैसा ही उसका स्वरूप है। उसके पुरुष परिचरों, स्त्री-परिचरों', 'पार्षदों' और 'पार्षदी' का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम श्लोक से पहले श्लोक में उसकी एक उपाधि 'गणेश्वर' भी है, जिससे आगे चलकर गणेश नाम बना।

यह विनायक उत्तर-कालीन 'गणेश' का आदि रूप है। 'बौधायन गृह्य-सूत्र' में इसका एक स्त्री-देवता के साथ साहचर्य भी बताया गया है, जिसका नाम 'ज्येष्ठा' है[1]। विनायक के स्तवन से ठीक पहलेवाले संदर्भ में इस स्त्री-देवता की अर्चना का विधान किया गया है। विनायक के समान ही इसको भी 'हस्तिमुखा' कहा गया है। उनके परिचर भी 'पार्षद' और 'पार्षदी' कहलाते हैं। उसके स्वरूप और गुणों का वर्णन नहीं किया गया; परन्तु विनायक की सहचरी होने के नाते संभवतः उसका स्वरूप और गुण भी विनायक जैसे ही थे। दुर्गा से उसे पृथक् माना गया है; परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि इसकी आकृति को भयावह बताया गया है। उसके रथ के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसे सिंह और व्याघ्र खींचते थे। यह दो गुण बाद में स्वयं दुर्गा के हो जाते हैं। यह गुणसंक्रमण इन दोनों देवताओं के तादात्म्य की ओर संकेत करता है और पुराणों के समय तक तो वास्तव में 'ज्येष्ठा' दुर्गा का एक नाम बन ही गया था। यह बात महत्वपूर्ण है और इसका पूरा अर्थ हम आगे चलकर समझेंगे।

उत्तर वैदिक साहित्य में विनायक का इस प्रकार सहसा उल्लेख और अपर काल में शिव के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध, इन दोनों ही बातों के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि विनायक के स्वरूप और उसकी वास्तविक उत्पत्ति के विषय में छान-बीन की जाय। अभी ऊपर हम कह चुके हैं कि प्रारम्भ में यह विनायक विनायकगण में से एक था और यह विनायकगण जनसाधारण के प्रचलित विश्वास के अनुसार अहितकारी जीव थे। क्या किसी समय रुद्र का भी इन विनायकों के साथ कोई सम्बन्ध था? 'बौधायन गृह्य-सूत्र' में जहाँ विनायक का उल्लेख किया गया है, वहाँ उसे 'भूतपति', 'भूपति', 'भूतानां पति' और 'भुवनपति' की उपाधियाँ दी गई हैं। ये उपाधियाँ साधारणतया रुद्र के लिए प्रयुक्त होती हैं। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर विनायक को 'उग्र' और 'भीम' भी कहा गया

---

१. बौधायन गृह्य-सूत्र : ३, ६।

है, जो वैदिक साहित्य में विशेष रूप से रुद्र की उपाधियाँ हैं। रुद्र और विनायक दोनों के परिचरों का भी एक ही नाम है, जबकि विष्णु के सम्बन्ध में किसी परिचरवर्ग का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यह धारणा होती है कि रुद्र और विनायक का परस्पर सम्बन्ध जितना ऊपर से प्रतीत होता है, उससे भी कहीं अधिक घनिष्ठ है। अपर-कालीन साहित्य में, विशेषकर पुराणों में, शिव को बहुधा गणेश की उपाधियाँ दी गई हैं, और गणेश को प्रायः भगवान् शिव के अनेक गुणों से विभूषित किया गया है। इससे यह प्रबल धारणा होती है कि कुछ विशेष पहलुओं से देखने पर शिव और गणेश का स्वरूप परस्पर बहुत विभिन्न नहीं था, अतः यह संभव हो सकता है कि प्रारम्भ में यह दोनों देवता एक ही थे।

हमने प्रथम अध्याय में इस बातकी ओर संकेत किया था कि अपने एक रूप में रुद्र विनायक के समान ही एक भयावह देवता थे, जिनकी तुष्टि के लिए 'त्र्यम्बक होम' किया जाता था। सूत्र ग्रन्थों में शूलगव यज्ञ के वर्णन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हो सकता है कि अपने एक रूप में स्वयं रुद्र को ही एक विनायक माना जाता हो और उसी रूप में उसको हस्तिमुख भी कल्पित किया गया हो। संभवतः इस रूप में रुद्र को 'गिरिचर' भी माना जाता था, और उनके कन्दरावास के प्रतीक स्वरूप मूषक को उनका वाहन कहा गया था[1]। यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्तर वैदिक काल में यह मूषक अनिवार्य रूप से गणेश का वाहन माना जाने लगा, शिव का नहीं। संभवतः इस रूप में शिव को ही विनायक कहा जाता था। रुद्र और गणेश के इस आदिकालीन तादात्म्य की पुष्टि 'अथर्वशिरस् उपनिषद्' से भी होती है, जिसमें रुद्र और विनायक, इन दोनों देवताओं को एक माना गया है। कालान्तर में रुद्र के अन्य रूपों का विकास दूसरे प्रकार से हुआ और उनका यह रूप मानों पृथक्-सा हो गया और होते-होते, इस रूप में रुद्र, विनायक के नाम से एक स्वतंत्र देवता बन गये। सूत्र ग्रन्थों के समय तक यह अवस्था आ गई थी। देवकथाओं में एक देवता द्वारा अन्य देवताओं को आत्मसात् कर लेने की प्रक्रिया तो काफी प्रचलित है और इसके उदाहरण हम रुद्र के अनेक रूपों की विवेचना करते समय दे भी चुके हैं। परन्तु एक विपरीत प्रक्रिया भी देव-कथाओं में चलती है, अर्थात् एक ही देवता के विभिन्न रूपों का विकास होते-होते अनेक स्वतंत्र देवताओं का अस्तित्व हो जाना। रुद्र और विनायक के सम्बन्ध में यही विपरीत प्रक्रिया काम करती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रारम्भ में विनायक रुद्र के ही एक रूप का नाम था; परन्तु जैसे-जैसे इस रूप का विकास होता गया, उस प्रारम्भिक तादात्म्य की स्मृति मिटती गई और अन्त में दोनों स्वतन्त्र देवता बन गये। साथ ही गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा और यह पिता-पुत्र सम्बन्ध उपयुक्त है भी; क्योंकि रुद्र के ही एक रूप से गणेश का जन्म हुआ है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसको देखते हुए अपर वैदिक काल में ज्येष्ठा और

---

१. रुद्र के इस स्वरूप की उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम पहले अध्याय में 'त्र्यम्बक होम' और 'शतरुद्रिय स्तोत्र' के प्रसंग में दिखा चुके हैं।

दुर्गा का तादात्म्य बड़ा अर्थपूर्ण हो जाता है। संभवतः ज्येष्ठा विनायकों की सजातीय ही प्रचलित लोक-विश्वास की एक स्त्री-देवता थी, और इसी कारण रुद्र के विनायक रूप से उसका साहचर्य रहा होगा। जब स्वयं रुद्र का साहचर्य एक अन्य स्त्री देवता से हुआ जो उनकी पत्नी कहलाई, तब इस ज्येष्ठा का उस स्त्री देवता से तादात्म्य हो जाना स्वाभाविक ही था। यद्यपि कुछ समय तक उसकी अलग उपासना होती रही, तथापि अन्त में उसको दुर्गा से अभिन्न माना जाने लगा और उसका नाम दुर्गा के अनेक नामों में गिना जाने लगा। अतः दुर्गा और ज्येष्ठा का यह तादात्म्य, रुद्र और विनायक के आदि तादात्म्य का एक और प्रमाण है।

हमारा यह निरीक्षण अब वैदिक काल के अन्त तक पहुँच गया है। इस अध्याय को समाप्त करने से पहले, हम संक्षेप में यह देख लें कि उत्तर वैदिक काल में, वैदिक रुद्र की उपासना में कितने महान् परिवर्तन हुए थे।

सिन्धु-घाटी के निवासियों का वैदिक आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु-घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया। इसके फलस्वरूप, सिन्धु घाटी की स्त्री-देवता का रुद्र की पूर्व सहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसको रुद्र पत्नी माना जाने लगा। इस प्रकार भारतवर्ष में देवी की उपासना आई और शाक्तमत का सूत्रपात हुआ। इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय-सम्बन्धी प्रतीकों की उपासना, जो सिन्धु-घाटी के देवताओं की उपासना का एक अंग थी, का भी रुद्र की उपासना में समावेश हो गया। साथ ही 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी होने लगी। परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ में यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था। इस प्रकार भारतवर्ष में लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव धर्म का एक अंग बन गई। दूसरी ओर उपनिषद् ग्रन्थों से पता चलता है कि रुद्र की उपासना का प्रचार नई धार्मिक और दार्शनिक विचार-धाराओं के प्रवर्तकों में हो रहा था, और ये लोग रुद्र को परब्रह्म मानते थे। परन्तु रुद्र का स्वरूप प्रचलित लोक-धर्म और धार्मिक आचार में लगभग वही रहा जो प्राचीन वैदिक काल में था। परन्तु इसी समय भक्तिवाद का विकास भी द्रुतगति से हो रहा था और उसमें रुद्र को जो देवाधिदेव का पद दिया जा रहा था, वह भी अधिकाधिक लोगों के सामने आ रहा था। इसके साथ-साथ रुद्र के एक प्राचीन रूप के विकास के फलस्वरूप एक नये देवता का प्रादुर्भाव हुआ जिसको सूत्रों में 'विनायक' कहा गया है, और जो अपर वैदिक काल में गणेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। रुद्र और विनायक प्रारम्भ में एक ही देवता के दो रूप थे। परन्तु इस बात की स्मृति धीरे-धीरे लुप्त हो गई, और गणेश को रुद्र का पुत्र माना जाने लगा।

रुद्र की उपासना की विधि में भी महान् परिवर्तन हुआ। जिस समय उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण हो रहा था, उसी समय भक्तिवाद की धारा भी चली, जिसका एक संकेत हमें 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में मिलता है। इस भक्तिवाद ने इस देश की धार्मिक विचारधारा और आचार को बिलकुल ही पलट दिया। ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का धीरे-धीरे ह्रास होता गया, और उसका स्थान प्रार्थना और देवता के चरणों में सीधे-सादे उपहार रखने

की विधि ने ले लिया। सिन्धु-घाटी की धार्मिक परम्परा के प्रभाव से भारतवर्ष में देवालयों में पूजा करने की प्रथा चली और चूँकि यह प्रथा भक्तिवाद के अनुकूल थी, अतः इसको तुरन्त ही अपना लिया गया। उसी समय से यह भारतवर्ष की धार्मिक परम्परा का एक स्थायी अंग बन गई। अब रुद्र के मन्दिर बनने लगे, और उनमें रुद्र की मूर्तियों का प्रतिष्ठान होने लगा। ये मूर्तियाँ मानवाकार भी थीं और 'लिंगाकार' भी।

इस प्रकार वैदिक युग के समाप्त होते-होते रुद्र के उपासना के स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया और मानों इसी परिवर्तन के प्रतीक स्वरूप रुद्र का नाम भी बदल गया तथा अब वह 'शिव' कहलाने लगे। वैदिक युग के अनन्तर साधारण रूप से उनका यही नाम हो गया।

चतुर्थ अध्याय

भारत में अपर वैदिक काल के सबसे प्राचीन ऐतिहासिक अभिलेख हैं—बौद्ध-साहित्य तथा 'पाणिनि' और 'कौटिल्य' के ग्रन्थ। जहाँ तक भगवान् शिव की उपासना का सम्बन्ध है, इन अभिलेखों में हमें कतिपय उल्लेखों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। परन्तु इन उल्लेखों से उन निष्कर्षों की पुष्टि होती है, जिन पर हम पिछले तीन अध्यायों में पहुँचे थे। बौद्ध ग्रन्थ 'दीघ निकाय' में विष्णु और शिव दोनों का उल्लेख है; परन्तु उनकी उपासना के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया। प्राचीन 'तिपिटक' और 'जातक' ग्रन्थों में भी यही स्थिति है। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में रुद्र और उनकी उपाधियों 'भव' और 'शर्व' का तो उल्लेख किया है[1], परन्तु उनके नये नामों, 'शिव', 'शंकर' आदि का नहीं। परन्तु यह ग्रन्थ सूत्रों के समय से बाद का है, इसके अनेक संकेत मिलते हैं। ग्रन्थ में केवल 'रुद्र', 'भव' और 'शर्व' नामों से स्त्री-लिंग बनाने का नियम ही नहीं दिया गया[2], अपितु दो बार 'भक्ति'[3] और दो बार 'भक्त'[4] का उल्लेख भी किया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक भक्तिवाद का प्रादुर्भाव हो चुका था; बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस समय तक यह भक्तिवाद कुछ प्राचीन भी हो चुका था; क्योंकि एक सूत्र में कृष्ण और अर्जुन के भक्तों का उल्लेख किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि पाणिनि के समय तक इन दोनों को देवता माना जाता था और इनकी पूजा होती थी[5]। मूर्तियों और देवालयों का उल्लेख अष्टाध्यायी में कहीं नहीं है; परन्तु उस समय वे रहे अवश्य होंगे।

पाणिनि के समय में भगवान् शिव के विकसित स्वरूप का सबसे बड़ा प्रमाण वे सूत्र हैं जिनको 'माहेश्वर' कहा गया है और जो उनकी अष्टाध्यायी के ही नहीं, अपितु तत्कालीन संस्कृति के समस्त व्याकरण के आधार हैं। इन सूत्रों में संस्कृत वर्णों का एक विशेष ढंग से वर्गीकरण किया गया है, जिससे प्रत्येक वर्ग का एक छोटा-सा नाम बन जाता है, जिसे प्रत्याहार कहते हैं[6]। इन प्रत्याहारों को लेकर ही वैयाकरण अपने सूत्रों की रचना करते थे। ये सूत्र महेश्वर अर्थात् भगवान् शिव के प्रकट किये हुए माने जाते हैं। और चूँकि इन सूत्रों में संस्कृत भाषा की सभी ध्वनियाँ अन्तर्हित हैं, अतः ये सूत्र महेश्वर के दिये हुए हैं, इसका

---

१. अष्टाध्यायी : १, ४९; ३, ५२; ४, १००।
२. ,, : १, ४९।
३. ,, : २, २१; ३, ९५।
४. ,, : ४, ६८; ४, १००।
५. ,, : ३, ९८।
६. ,, : ये माहेश्वर सूत्र इस प्रकार हैं:—"अ इ उ (ण्), ऋ लृ (क्), ए ओ (ङ्), ऐ औ (च्), ह य व र (ट्), ल (ण्), ञ म ङ ण न (म्) झ भ (ञ्), घ ढ ध (ष्), ज ब ग ड द (श्), ख फ छ ठ थ च ट त (व्), क प (य्), श ष स (र्), ह (ल्)।"

अर्थ यह हुआ कि उस समय तक यह माना जाने लगा था कि मानव को वाक्-शक्ति भगवान् शिव से ही मिली है[1]। यह शिव के स्वरूप के महान् उत्कर्ष का सूचक है।

पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनन्तर हमें फिर ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व का कौटिलीय अर्थशास्त्र ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में दुर्गों के अन्दर बने शिव और अन्य देवताओं के मन्दिरों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में और भी बहुत-सी ऐसी सामग्री है, जिससे पता चलता है कि उस समय तक देवालय और मूर्तिपूजा स्थायी रूप से भारतीय धर्म का अंग बन चुके थे[2]।

ऊपर जिन ग्रन्थों की चर्चा की गई है, उनसे कोई और विशेष महत्त्व की सामग्री नहीं मिलती। अतः अब हम अपर वैदिक काल में शैवधर्म-सम्बन्धी अपनी जानकारी के अगले स्रोत को लेते हैं। यह स्रोत हैं—रामायण और महाभारत।

रामायण और महाभारत में शैव-धर्म का काफी विकसित रूप दिखाई देता है, जिसमें पौराणिक शैव धर्म के प्रायः सभी लक्षण वर्तमान हैं। परन्तु रामायण और महाभारत का रचना-काल काफी लम्बा है, इसी कारण उसमें रुद्र की उपासना के प्राचीन और अर्वाचीन दोनों रूप पाये जाते हैं। रामायण में महाभारत की अपेक्षा शैव धर्म का कुछ अधिक प्राचीन रूप दिखाई देता है, अत: पहले हम रामायण को ही लेते हैं।

सूत्र ग्रन्थों की अपेक्षा रामायण में रुद्र का स्वरूप अत्यधिक विकसित है। उनको सामान्यतः अब रुद्र नहीं, अपितु 'शिव' कहा जाता है। 'महादेव', 'महेश्वर', 'शंकर', 'त्र्यम्बक' और त्र्यम्बक के पर्यायवाची अन्य नामों का अब पहले की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयोग होता है। भयावह 'रुद्र' से सौम्य 'शिव' नाम का परिवर्तन केवल नाम का ही परिवर्तन नहीं है, अपितु इस देवता के स्वरूप में एक महान् परिवर्तन का वाह्य लक्षण है, और रुद्र के सौम्य करने की उस प्रक्रिया की सफल समाप्ति का सूचक है जो वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो गई थी।

उपनिषद् ग्रन्थों में हमने देखा था कि नई धार्मिक और दार्शनिक विचारधारा के सम्पर्क में आकर रुद्र के प्राचीन स्वरूप में कितना परिवर्तन आ गया था। 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् से यह भी पता चलता है कि उसी समय भक्तिवाद का भी प्रादुर्भाव हो रहा था, और विष्णु और शिव को इस भक्तिवाद के आराध्य-देव बनाया जा रहा था। इस भक्तिवाद के मूल सिद्धान्त थे—ईश्वर में निष्ठा, और ईश्वर की दया तथा कृपा से मोक्ष प्राप्ति। इन सिद्धान्तों के प्रभाव से रुद्र के प्राचीन स्वरूप का भयावह अंश पीछे पड़ गया, और रुद्र का सौम्य रूप अधिकाधिक सामने आता गया। जिस समय तक भक्तिवाद ने पूर्णरूप से प्राचीन कर्मकाण्ड का स्थान लिया, उस समय तक रुद्र को भी एक सौम्य और दयावान् देवता के रूप में और सच्चे अर्थ में 'शिव' माना जाने लगा था। रामायण में हम रुद्र का यही रूप देखते हैं। अब रुद्र वह देवता नहीं हैं, जिनके प्रकोप से और जिनके भयानक बाणों

---

१. संस्कृत को जो देव-वाणी का पद दिया गया है, उसका भी यही कारण प्रतीत होता है।

२. कौटिल्य अर्थ-शास्त्र (शाम शास्त्री संस्करण)—२, २२; २, ६०।

से सभी डरते थे, अपितु अब वे सदा ही मानवमात्र के कल्याण करने में लगे रहते हैं[1]। वे वरदाता हैं[2], आशुतोष हैं और दयानिधि हैं। उनका पद भी अब अत्यन्त उत्कृष्ट है। उपनिषदों में हमने देखा था कि रुद्र को दार्शनिक रूप से परब्रह्म माना जाता था। भक्तिवाद के उत्थान के साथ उनके इस रूप का भी अधिकाधिक प्रचार हुआ। प्राचीन वैदिक देवमण्डल का अब इतना ह्रास हो गया था कि वह प्रायः नगण्य था और उसके स्थान पर एक 'त्रिमूर्ति' का उत्थान हो रहा था। इस त्रिमूर्ति में भी 'ब्रह्मा', प्रायः पीछे-पीछे ही रहते हैं, और विश्व के सक्रिय संचालन और नियंत्रण के कार्य में इनका स्थान त्रिमूर्ति के अन्य दो देवताओं, विष्णु और शिव की अपेक्षा कुछ घट कर है। जब-जब देवताओं पर कोई संकट पड़ता है, बहुधा ब्रह्मा देवताओं की ओर से इन्हीं दो देवताओं में से किसी एक से साहाय्य याचना करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं[3]। जहाँ तक विष्णु और शिव का सम्बन्ध है, अभी तक इन दोनों के बीच कौन श्रेष्ठ है, इसके लिए कोई संघर्ष नहीं होता था। दोनों के उपासक अपने-अपने देवताओं को श्रेष्ठ मानते थे; पर इसको लेकर एक दूसरे से झगड़ते नहीं थे। रामायण चूँकि एक वैष्णव ग्रन्थ है, इस कारण इसमें विष्णु को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया गया है। परन्तु जहाँ-जहाँ शिव का प्रसंग आया है, शिव को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उन्हें देवताओं में सर्वोच्च और सर्वोत्तम तथा देवों के देव कहा गया है[4]। अमर लोक में भी उनकी उपासना होती है[5]। प्रत्येक महान् संकट में देवतागण सहायता और परित्राण के लिए उन्हीं के पास दौड़े जाते हैं। एक बार तो स्वयं विष्णु अन्य देवताओं को लेकर उनकी शरण में गये थे[6]।

भगवान् शिव का उपनिषदोंवाला दार्शनिक स्वरूप रामायण में अधिक नहीं मिलता। परन्तु उनको उस समय जो उत्कृष्ट पद प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि इसका ज्ञान तब अवश्य था। एक स्थल पर तो स्पष्ट रूप से शिव को जगत् की सृष्टि और अन्त करनेवाला, सब लोकों का आधार और परं गुरु कहा गया है[7]। एक अन्य स्थल पर उन्हें 'अमर', 'अक्षर' और 'अव्यय' माना गया है[8]। वास्तव में शिव का जो स्वरूप रामायण में दिखाई देता है, उसको हम उनके दार्शनिक परब्रह्म स्वरूप का ही एक लोकप्रिय और सहजगम्य रूप मान सकते हैं।

शिव का योगाभ्यास के साथ जो सम्बन्ध पहले-पहल उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता

---

१. रामायण, बाल-काण्ड : ३६. ९-१०।
२. ,, ,, : ५५, १३।
३. ,, ,, : ३६, ८।
४. ,, ,, : ४५, २२-२६; ६६, ११-१२; ६, १; १६, २७।
५. ,, ,, : १३, २१ और आगे।
६. ,, ,, : ४५, २३ और आगे।
७. ,, ,, : ६, २।
८. ,, ,, : ४, २६।

है, वह रामायण में अधिक स्पष्ट हो जाता है। शिव की उपासना का और उनको प्रसन्न करने का सामान्य मार्ग अब तपश्चर्या ही है। 'भगीरथ' ने उनको इसी प्रकार तुष्ट किया[१] और 'विश्वामित्र' ने भी[२]। स्वयं देवताओं को भी शिव से वरदान पाने के लिए तप करना पड़ता है[३]। असल में तपश्चर्या और योग भारतवर्ष में एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित हुए। भगवद्दर्शन और मोक्षप्राप्ति के लिए इनको अत्यन्त उपयुक्त समझा जाता था। यह भी विश्वास किया जाता था कि इनका अभ्यास करनेवाले को अनेक शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसी कारण तपश्चर्या और योगाभ्यास को बड़ा गौरवमय पद दिया गया है। इनकी सहायता से मानव देवताओं से टक्कर लेते हैं, और दानव भी योगाभ्यास के बल से देवताओं से वरदान प्राप्त करते थे। योग का उत्कर्ष यहाँ तक हुआ कि शिव तक को, जो स्वयं योगाधिगम्य थे, योगाभ्यासी माना जाने लगा और वह महायोगी कहलाने लगे। इसको हम योग का चरमोत्कर्ष कह सकते हैं। रामायण के समय तक यह स्थिति आ चुकी थी, और एक स्थल पर हिमालय में योगाभ्यास करते हुए भगवान् शिव का उल्लेख भी किया गया है[४]।

परन्तु रामायण में सबसे अधिक ज्ञान हमें शिवोपासना के लोकप्रचलित रूप का होता है। शिव अब एक कल्याणकारी देवता तो माने जाते ही थे, साथ ही रुद्रपत्नी का भी अब उनके साथ निरन्तर उल्लेख होता है, और उनका भी अब एक विकसित व्यक्तित्व बन गया है। उनका एक नाम 'उमा' है[५] और उनको हिमवत् अर्थात् हिमालय की पुत्री माना जाता था[६]। यह वही देवता हैं, जिन्हें 'केन' उपनिषद् में 'उमा हैमवती' कहा गया है। हिमवत् से सम्बन्ध होने के कारण इनका नाम पार्वती भी पड़ गया और आगे चलकर यह सबसे प्रचलित नाम हो गया[७]। एक बार इनको 'रुद्राणी' भी कहा गया है[८]। परन्तु, 'भवानी' नाम को छोड़कर इस प्रकार के नामों का, जो रुद्र के अनेक नामों के स्त्रीलिंग रूप मात्र हैं, आगे चलकर बहुत कम प्रयोग होने लगा और इस स्त्री-देवता को सामान्यतः उनके अपने नामों से ही पुकारा जाने लगा। इससे भी पता चलता है कि अधिकतर अन्य देवियों की तरह यह देवी केवल अपने पति रूप पुरुष-देवता की छाया-मात्र ही नहीं थी, अपितु उनका एक स्वतंत्र व्यक्तित्व था। शिव के समान ही भक्तिवाद के नम्र प्रभाव से इनका भी आदिम भयावह रूप धीरे-धीरे लुप्त हो गया, ऐसा जान पड़ता है।

---

१. रामायण, बा० का० : ४२, २३-२४।
२. ,, ,, : ५५, १२।
३. ,, उ० का० : १३, २१-२२।
४. ,, बा० का० : ३६, २६।
५. ,, ,, : ३५, १६-२१; ३६, १४-२०; ४३, २; उ० का० ४, २८-३०; १३, २२; १६, ३२; ८७, १२-१६।
६. ,, बा० का० : ३५, १६; ३६, २१; उ० का० ८७, ११।
७. ,, उ० का० : ४, २७; १३, २३; ६, २६-३०।
८. ,, ,, : १३, २३।

कम-से-कम शिव की पत्नी के रूप में तो ऐसा अवश्य हुआ है, और तब यह देवी एक सौम्य कल्याणकारिणी और दयावती देवी बन गईं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका पद कुछ गिर गया हो। यद्यपि रामायण में इनका अधिक उल्लेख नहीं हुआ है, तथापि उनके उत्कृष्ट पद प्राप्त होने के अनेक संकेत रामायण में मिलते हैं। इसी कारण उनको प्रायः 'देवी'[१] कहा जाता है और समस्त सृष्टि उनका सम्मान करती है[२]। देवतागण भी उनके सामने आँख उठाने का साहस नहीं कर सकते। रामायण की एक कथा के अनुसार एक बार दैवयोग से 'कुबेर' की दृष्टि उनके मुख पर पड़ गई, जिससे तत्क्षण कुबेर की आँख ही चली गई[३]। एक बार जब क्रुद्ध होकर उन्होंने देवताओं को शाप दे दिया, तब देवता उनके शाप का निवारण करने में असमर्थ रहे[४]। अतः जब कवि यह वर्णन करता है कि रावण के कैलास पर्वत को हुलाने पर पार्वती ने डरकर सहसा अपने पति का आलिंगन कर लिया, तब हँसी आती है। कवि की कल्पना नारी के स्वभाव-सुलभ भीरुपन को दिखाने में यथार्थता को पीछे छोड़ गई है[५]।

रामायण में देवी की शिव के साथ ही उपासना होती है, और जिस प्रकार भक्तजन भगवान् शिव से कल्याण की प्रार्थना करते हैं, उसी प्रकार देवी से भी करते हैं। वह हमेशा शिव के साथ ही रहती हैं, और इन दोनों को लेकर जिस उपासना का उत्थान हुआ, वही वेदोत्तर काल में शैव धर्म का सबसे अधिक प्रचलित रूप बना।

रामायण में शिव और पार्वती-सम्बन्धी उन देवकथाओं और आख्यानों का चक्र भी प्रारम्भ हो जाता है, जो शिवोपासना के लोकप्रचलित रूप का एक प्रमुख अंग है, और जिसका पुराण-काल में भारी विस्तार हुआ है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि वैदिक काल में जो कथाएं रुद्र के सम्बन्ध में प्रचलित थीं, उनमें से बहुत कम अब तक शेष रह गईं। रुद्र का शिवरूप में परिवर्तन इतना पूर्ण था कि उनका नाम, स्वरूप और उपासना के तरीके तो बदल ही गये, इसके साथ उनके सम्बन्ध में जिन देवकथाओं का प्रादुर्भाव हुआ, वे भी बदल गईं। यद्यपि अब हमें एक नवीन देवकथा-चक्र का अध्ययन करना पड़ता है, तथापि इनमें कुछ कथाओं का बीज हमें वैदिक साहित्य में मिल सकता है। कुछ कथाओं का आधार तो वैदिक रुद्र का ही एक रूप विशेष है, जिसकी स्मृति तक शेष थी। ये ही कथाएँ वैदिक रुद्र और वेदोत्तरकालीन शिव में सम्बन्ध स्थापित करती हैं, और हमें इस बात का स्मरण कराती हैं कि ये दोनों मूल रूप से एक ही देवता थे। इसका एक प्रमुख उदाहरण है कैलास पर्वत पर शिव का आवास का होना[६]। यह वैदिक रुद्र के, उत्तर दिशा के साथ, सम्बन्ध का

१. रामायण, बा० का० : ३६, ६; १०, २६; उ० का० १३, २२- ३०; ८७, १३।
२. ,, ,, : ३५, २१।
३. ,, उ० का० : १३, २२-२५।
४. ,, बा० का० : ३६, २१-२५।
५. ,, उ० का० : १६, २६।
६. ,, बा० का० : ३६, २६; उ० का० १६, १ और आगे।

विकासमात्र है। दुर्भाग्यवश कोई ऐसा अभिलेख उपलब्ध नहीं है, जिनके द्वारा हम इन देवकथाओं का पूर्व इतिहास जान सकें और इनके आदिम स्रोत तक पहुँच सकें।

रामायण में इन कथाओं में से अधिकतर अपने विकसित रूप में ही पाई जाती हैं, और कुछ का रूप तो लगभग वैसा ही हो गया है जैसा कि पुराणों में मिलता है। अतः हमको इतने पर ही संतोष करना पड़ेगा कि हम इन कथाओं का अध्ययन करें और इनके इसी रूप में ऐसे सुराग ढूँढ़ें जिससे इनकी उत्पत्ति का पता चल सके।

इनमें से पहली कथा तो भगवान् शिव के विषपान की है[1]। यह कथा देवताओं द्वारा सागर-मन्थन की वृहत् कथा का एक भाग है, जिसका रामायण में संक्षेप से ही उल्लेख किया गया है। देव और दानव, मन्दार पर्वत को रई (मथनी) बना कर और नाग वासुकि को रज्जु बनाकर जब दीर्घ काल तक सागर का मन्थन करते रहे, तब वासुकि के मुख से और मन्दार पर्वत की चट्टानों से हलाहल टपकने लगा, जिससे समस्त सृष्टि और स्वयं देवों तथा दानवों के भस्मसात् हो जाने का संकट उत्पन्न हो गया। भयभीत हो देवतागण शिव के पास गये, और देवताओं की ओर से विष्णु ने उनसे प्रार्थना की कि वह सागर-मन्थन के प्रथम फल के रूप में इस हलाहल को ग्रहण करें। इसपर भगवान् शिव उस भयंकर विष को इस प्रकार पी गये, मानों वह अमृत हो। कवि ने यहाँ यह वर्णन नहीं किया कि जब वह हलाहल शिव के कण्ठ में पहुँचा, तब देवताओं की विनती पर उन्होंने उसे वहीं रोक लिया, जिससे उनका कंठ नीला पड़ गया। परन्तु कथा के इस भाग का ज्ञान उस समय भी अवश्य रहा होगा; क्योंकि महाभारत में इसका अनेक स्थलों पर विभिन्न प्रकार से उल्लेख किया गया है। इस कथा की उत्पत्ति निःसन्देह वैदिक रुद्र की 'नील-ग्रीव,' 'नील-कंठ' उपाधि का समाधान करने के फलस्वरूप हुई थी। इन उपाधियों के मूल अर्थ को लोग भूल गये थे; परन्तु चूँकि उपाधियाँ स्वयं अभी तक चली आ रही थीं, अतः उनको समझाने के लिए ही यह कथा रची गई।

एक अन्य कथा है—गंगावतरण की[2]। इसकी उत्पत्ति का हम ऊपरवाले ढंग से समाधान नहीं कर सकते। भगीरथ अपने पूर्वज सगरपुत्रों के उद्धार के लिए गंगा को स्वर्ग से उतार कर पृथ्वी पर लाना चाहते थे। उनकी भक्ति और प्रार्थना से प्रसन्न होकर भगवान् शिव ने गंगा के प्रपात को रोकने के लिए, उसे पृथ्वी पर पहुँचने से पहले, अपने सिर पर लेना स्वीकार कर लिया। अपने अभिमान में गंगा ने चाहा कि भगवान् शिव को भी अपने साथ बहा ले जायँ और पाताल लोक में पहुँचा दें। गंगा के अभिमान-मर्दन के लिए शिव ने उसकी धारा को अपनी जटाओं में ले लिया, और उन जटाओं के जंगल में गंगा ऐसी खोई कि लाख प्रयत्न करने पर भी बाहर निकलने का कोई मार्ग न पा सकी। इस प्रकार गंगा का अभिमान चूर हो जाने पर, और भगीरथ के सानुरोध अनुनय करने पर, अन्त में शिव ने उसे मुक्त कर दिया। यहाँ इस कथा का प्रयोजन स्पष्ट रूप से शिव की महत्ता प्रदर्शन ही है; परन्तु वास्तव में इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसका पता नहीं। संभव है कि जिस गंगा नदी को

१. रामायण, बा० का० : ४५, १८-२६।
२. ,, ,, : ४२-४३।

पृथ्वी पर देवतास्वरूप माना जाता है, और जिसके उद्गम का शायद उस समय तक ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था, उसका उचित स्थान-निर्देश करने के लिए इस कथा की रचना हुई हो।

शिव-सम्बन्धी अन्य कथाएँ शिव और पार्वती के साहचर्य के कारण बनीं। इनमें सबसे प्रमुख वह है—जो इसी साहचर्य का समाधान करती है। देवताओं के स्वरूप का अत्यधिक मानवीकरण हो जाने के कारण यह आवश्यक था, और सहज व्यावहारिक तर्क की यह माँग भी थी कि किसी देवता को अगर पत्नी मिले तो वह सामान्य परिणय-विधि द्वारा ही उसे प्राप्त करे। जहाँ तक भगवान् शिव का सम्बन्ध है, उनके विषपान की कथा के समान ही उनके विवाह की कथा भी एक बृहत् कथा का भाग है; परन्तु उसका वास्तविक प्रयोजन बिलकुल स्पष्ट है। उसकी उत्पत्ति का ज्ञान भी सहज ही हो सकता है; क्योंकि जब पार्वती को हिमवत् की पुत्री माना जाने लगा, और शिव का वास भी उसी पर्वत में, तब कथा के शेष अंशों की पूर्त्ति एक सहज-सी बात थी। रामायण में इस कथा का, केवल एक बार संक्षिप्त रूप में ही, उल्लेख किया गया है[1]। इसमें कथानक इस प्रकार है कि उमा ने शिव को वर रूप में पाने लिए तपस्या की, और उसके पिता ने यथासमय उसका विवाह शिव से कर दिया। बाद में इस कथा का विस्तार हुआ और इसमें अनेक दूसरी बातों और घटनाओं का समावेश किया गया। यहाँ तक कि यह कथा महाकाव्यों का कथानक बनने के योग्य हो गई। इनमें से एक घटना है—मदन-दहन। इसकी सम्भवतः एक अपनी कथा थी, और इसकी रचना, शिव के आदर्शयोगी रूप पर जोर देने और शायद कामदेव की 'अनंग' उपाधि का समाधान करने के लिए की गई थी। इसका उल्लेख रामायण के एक अन्य स्थल पर भी हुआ है[2]। यहीं शायद इसका आदिरूप भी है; क्योंकि इसमें वे नाटकीय अंश नहीं हैं, जो इस कथा के अन्य संस्करणों में पाये जाते हैं। कुछ और बातों में भी यह कथा उनसे भिन्न है। इस कथा के अनुसार कामदेव ने, जो पहले सशरीर था, विवाह के उपरान्त अपनी पत्नी के साथ विचरते हुए शिव को रोकने की उद्दण्डता की। परन्तु शिव के तृतीय नेत्र के प्रचण्ड क्रोधानल से वह भस्मसात् हो गया। इस कथा से शिव को 'कामारि' की एक नई उपाधि मिली[3]।

शिव और पार्वती के विवाह की कथा के सिलसिले में ही स्कन्द के जन्म की कथा भी रामायण में दी गई है। सूत्र-ग्रन्थों में इस देवता का उल्लेख हो चुका है। परन्तु वहाँ उसके और शिव के सम्बन्ध का कोई वर्णन नहीं किया गया। रामायण में इस कथा के दो भिन्न रूप हैं; परन्तु दोनों आपस में कुछ मिल-जुल भी गये हैं। पहले रूप में कथा इस प्रकार है कि शिव और पार्वती की रति-लीला जब अतिदीर्घकाल तक चलती रही, तब देवतागण घबरा गये। वे ब्रह्मा को अग्रणी बना शिव के वास पर पहुँचे, और उनसे प्रार्थना करने लगे कि वह पार्वती से अपनी कोई सन्तान उत्पन्न न करें; क्योंकि ऐसी सन्तान के तेज को त्रिलोक में कोई सहन नहीं कर सकेगा। शिव ने प्रार्थना स्वीकार की; परन्तु उनका जो बीज

१. रामायण, बा० का० : ३५, १३-२०।
२. „ „ : २३, १० और आगे।
३. „ उ० का० : ६, ३ इत्यादि।

विक्षुब्ध हो चुका था, उसके लिए कोई उपयुक्त पात्र माँगा। देवताओं ने पृथ्वी को इस कार्य के लिए राजी किया, और जब शिव के बीज ने समस्त पृथ्वी को व्याप्त कर लिया, तब अग्निदेव उस बीज में प्रवेश कर गये। इसपर उस बीज ने एक श्वेत पर्वत का रूप धारण कर लिया, जिसपर एक शर-वण था और इसी वन में स्कन्द का जन्म हुआ। परन्तु देवताओं के इस असामयिक विघ्न डालने से पार्वती को बहुत रोष आ गया, और इन्होंने देवताओं को शाप दिया कि वे सदा निःसन्तान रहेंगे[1]। इस कथा का दूसरा रूप अगले खंड में दिया गया है, और एक प्रकार से कथा के पहले रूप को ही आगे बढ़ाता है। क्योंकि, जब पार्वती के शाप से देवताओं की अपनी कोई सन्तान न हो सकी, तब उन्होंने गंगा को अग्नि से पुत्र उत्पन्न करने के लिए कहा, जो उनके शत्रु-दानवों का संहार कर सके। गंगा राजी हो गई; परन्तु अग्नि के बीज को सहन न कर सकी। उसने उसे हिमालय पर्वत पर डाल दिया, जहाँ वह भ्रूण रूप में बढ़ता रहा, और उचित समय पर 'स्कन्द' का जन्म हुआ। इस नवजात शिशु को कृत्तिकाओं ने पाया तथा पाला-पोसा, और इसी कारण उसका 'कार्तिकेय' नाम भी पड़ा[2]। अब यहाँ देखना यह है कि कथा के दोनों ही रूपों में शिव का असली पुत्र 'स्कन्द' नहीं है। दूसरे रूप में तो उसका शिव से कोई सम्बन्ध ही नहीं है और उसको अग्नि का पुत्र माना गया है। पहले रूप में भी अग्नि ही 'स्कन्द' का अव्यवहित जनक है, यद्यपि जिस बीज से स्कन्द का जन्म हुआ, वह शिव का ही था। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जब स्कन्द को, शिव का पुत्र नहीं, अपितु 'अग्नि-सम्भवः' अर्थात् अग्नि से उत्पन्न बतलाया गया है, तब ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में 'स्कन्द' का शिव का पुत्र नहीं माना जाता था। वह अग्नि का पुत्र था और सम्भव है कि वह सूर्य-सम्बन्धी कोई देवता रहा हो। जब हम महाभारत का निरीक्षण करेंगे तब यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी और वहाँ हमें तो इस कथा का वह आदि रूप ही नहीं मिलता है। वहाँ इस कथा के विकास की विभिन्न अवस्थाओं से हमारा परिचय होता है, और हमें यह भी पता चलता है कि क्यों स्कन्द को शिव के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया?

इन कथाओं के अतिरिक्त रामायण में कई अन्य कथाओं के प्रसंग भी आये हैं। अतः इनका भी उस समय तक प्रादुर्भाव हो गया होगा। दक्ष-यज्ञ की कथा का एक बार उल्लेख किया गया है[3] और एक बार शिव द्वारा 'अन्धकवध' का भी उल्लेख हुआ है[4]। इसके अतिरिक्त 'त्रिपुरारि' और इसकी पर्यायवाची शिव की अन्य उपाधियों के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिव द्वारा दानवों के तीन पुरों के ध्वंस की कथा भी उस समय तक प्रचलित हो गई थी[5]। श्री गोरेसियो

१. रामायण, बा० का० : ३६, ५-२७।
२. ,, ,, : ३७, २३-२५।
३. ,, ,, : ६६, ६।
४. ,, अर० का० : ३५, ९३।
५. ,, बा० का० : ७५, १२; ४, २८; ६, ३।

द्वारा प्रकाशित रामायण में तो इस कथा के दो प्रत्यक्ष उल्लेख भी हैं [1]। इन कथाओं का विस्तृत विवेचन हम 'महाभारत' का निरीक्षण करते समय करेंगे।

भगवान् शिव का एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण रूप अभी देखना शेष है। वह है— देवताओं और मनुष्यों द्वारा ही नहीं, अपितु इन दोनों के शत्रु मानेजानेवाले दानवों द्वारा भी शिव की उपासना। उदाहरणार्थ रावण का जब एक बार अभिमान टूट चुका, तब वह शिव का भक्त हो गया [2]। विद्युत्केश दानव को पार्वती ने गोद लिया था और शिव ने उसे अमरत्व का वरदान दिया था [3]। एक अन्य स्थल पर कहा है कि देवताओं के प्रार्थना करने पर भी शिव ने दानवों का संहार करने से इनकार कर दिया; क्योंकि वह पहले ही दानवों का संहार न करने का वचन दे चुके थे [4]। इससे शिव का दानवों के साथ कुछ निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है, और इस बात में वह विष्णु से बिलकुल विपरीत है। विष्णु ने कभी किसी दानव को कोई वर नहीं दिया और न किसी दानव ने ही कभी विष्णु की उपासना की। वह हमेशा देवताओं के पक्षपाती और दानवों के संहारक रहे हैं। शिव ने जब देवताओं की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया, तब विष्णु ने उनके कार्य को अपने ऊपर लिया। यह अन्तर इन दोनों देवताओं में एक मौलिक भेद का परिचायक है, यद्यपि इनकी उपासना का विकास समान प्रकार से हो रहा था, और आगे चल इन दोनों का तादात्म्य भी हो गया। यह अन्तर इन दोनों देवताओं के आदि-स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। विष्णु प्रारम्भ से ही विशुद्ध रूप से आर्यों के देवता थे। प्रारम्भ से ही उनकी उपासना आर्य-जाति के उच्च वर्गों में होती थी और बहुत शीघ्र ही ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड से भी उनका यथेष्ट सम्पर्क हो गया। यहाँ भी उनका महत्त्व बढ़ता ही गया और उनको मानों यज्ञ का प्रतीक माना जाने लगा [5]। जनसाधारण में विष्णु की उपासना अधिक नहीं होती थी। इसके अलावा विष्णु का ब्राह्मण पुरोहितों के कर्मकाण्ड के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाने से विष्णु के स्वरूप में अथवा उनकी उपासना में किसी विदेशी अंश का समावेश न हो सका। कर्मकाण्ड के उत्थान के साथ यज्ञ को उनका मूर्त-स्वरूप माना जाने लगा और इसी से विष्णु की वह दशा नहीं हुई जो अन्य देवताओं की हुई। जैसे-जैसे अन्य देवताओं के महत्त्व का ह्रास होता गया, विष्णु आर्यों के प्रधान देवता बनते गये, और इसी नाते उनके शत्रुओं के संहारक भी, जिनको देवकथाओं में दानवों का रूप दिया गया है, आर्यों के प्रधान देवता बन गये। परन्तु रुद्र की यह स्थिति नहीं थी। उनका लोकप्रिय स्वरूप और प्रचलित लोक-विश्वासों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हम देख ही चुके हैं। हमने यह भी देखा है कि अपने इस लोकप्रिय रूप के फलस्वरूप रुद्र ने आर्येतर जातियों के अनेक देवताओं को आत्मसात् कर लिया, और इन जातियों को आर्य जाति के साथ मिलाने

---

१. रामायण, (गोरेसियो संस्करण) : ४, ५, ३०; ६, ५१, १७।
२. „ उ० का० : १६, ३४ और आगे।
३. „ „ : ४, २९।
४. „ „ : ६, ३ और आगे।
५. 'विष्णुर्वै यज्ञः'।

की सुविधा के लिए इनको आर्य-देवता रुद्र का उपासक माना जाने लगा। इन जातियों का तो धीरे-धीरे आर्यों के साथ सम्मिश्रण हो गया; परन्तु इनके प्रारम्भ में आर्येतर होने की स्मृति देवकथाओं में बनी रही। यही कारण था कि इन देवकथाओं में दानवों को शिव का उपासक माना गया है। रामायण में शिव दानवों की उपासना स्वीकार करते हुए और उन्हें वरदान देते हुए पाये जाते हैं। हमें इसको उस प्राचीन काल की स्मृति समझना चाहिए। जब दानव, विभिन्न आर्येतर जातियों के अपने आदिम मानवरूप में, शिव की उपासना करते थे और उनसे कल्याण के लिए प्रार्थना करते थे। इस प्रकार शिव मनुष्यों और सुरों के ही देवता नहीं थे, अपितु दानवों के भी उपास्यदेव थे। शिव की इस अद्वितीय महत्ता को लेकर उनके उपासकों ने उनका पदोत्कर्ष किया। वही एक ऐसे देवता थे, जिन्हें सारी सृष्टि—देव और दानव—पूजते थे। स्वयं विष्णु भी यह दावा नहीं कर सकते थे। इसी कारण शिव-भक्तों ने शिव को ही देवाधिदेव और परम परमेश्वर माना। केवल एक देवता ब्रह्मा भी थे, जिनकी उपासना देव और दानव दोनों करते थे। परन्तु ब्रह्मा के इस प्रकार पूजे जाने के कारण बिलकुल भिन्न और अपेक्षाकृत बड़े सरल थे। चराचर के स्रष्टा के रूप में उनकी कल्पना की गई है। उन्होंने जहाँ देवों की सृष्टि की, वहाँ दानवों और मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों की भी। इसी तथ्य को प्रजापति और उनकी दो पत्नियों, दिति और अदिति, की कथा में लक्षण रूप से दर्शाया गया है। दिति से दैत्य और अदिति से आदित्य और अन्य देवता उत्पन्न हुए। ईसाई देवकथाओं में भी इसी प्रकार का एक उदाहरण मिलता है कि शैतान और उसके अनुयायी प्रारम्भ में ईश्वर के दरबार के फरिश्ते थे। देवों और दानवों के समान स्रष्टा होने के नाते, दोनों के द्वारा ब्रह्मा की उपासना होनी स्वाभाविक ही थी। परन्तु ज्यों-ज्यों विष्णु और शिव का महत्त्व बढ़ने लगा, त्यों-त्यों ब्रह्मा का महत्त्व घटता गया और अन्त में लुप्तप्राय हो गया। यद्यपि प्राचीनता के नाते ब्रह्मा की गणना 'त्रिमूर्ति' में होती रही; परन्तु वास्तव में भगवान् शिव ही एक ऐसे देवता रह गये जिनको यथार्थ में 'सर्वेश' कहा जा सकता था।

रामायण में शिव के स्वरूप और उनकी उपासना के प्रमुख अंशों का उल्लेख मिलता है। साथ-साथ इन्हीं के सम्बन्ध में अनेक छोटी-मोटी बातों का भी पता चलता है। प्रथम तो रामायण में शिव की दो नई उपाधियाँ दी गई हैं, 'हर'[1] और 'वृषध्वज'[2]। पहले नाम की व्युत्पत्ति 'हृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है—'ले जाना'। जान पड़ता है कि प्रारम्भ में यह उपाधि अग्नि की थी; क्योंकि उसको देवताओं के लिए बलि ले जानेवाला माना जाता था। जब रुद्र और अग्नि का तादात्म्य हुआ, तब सम्भवतः यह उपाधि अग्नि से बदलकर रुद्र को दी जाने लगी और कालान्तर में यह उपाधि शिव के सबसे अधिक प्रचलित नामों में से एक हो गई। दूसरी उपाधि का इतिहास भी रोचक है। संहिताओं में हम देख आये हैं

---

१. रामायण, बा० का० : ४३, ६; उ० का० ४, ३२; १६, २७; ८७, ११। यह उपाधि 'आश्वलायन गृह्य-सूत्र' में भी एक बार शिव को दी गई है—४, १०।

२. ,, यु० का० : ११७, ३; उ० का० १६, ३५; ८७, १२।

कि 'वृषभ' अथवा 'वृष', रुद्र की एक सामान्य उपाधि थी। इन शब्दों का व्यावहारिक अर्थ 'बैल' है। ब्राह्मण ग्रन्थों और उत्तर वैदिक साहित्य में भी यह शब्द रुद्र की उपाधि मात्र ही रहा, और रुद्र के सम्बन्ध में इसका शाब्दिक अर्थ 'वर्षयिता' अर्थात् वर्षा करनेवाला किया जाता था। परन्तु धीरे-धीरे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द का यह अर्थ लोग भूल गये, और इसके व्यावहारिक अर्थ को ही लेकर उन्होंने वृषभ को शिव का वाहन मानकर इस उपाधि का समाधान किया। तदनन्तर शिव के मन्दिरों पर जो पताकाएँ फहराई जाती थीं, उनपर सम्भवतः इस वृषभ के चित्र बनने लगे, और इस प्रकार, शिव को 'वृषभध्वज' की नई उपाधि मिली।

रामायण में ही प्रथम बार शिव के परिचर 'नन्दी' का भी उल्लेख किया गया[1]। उसको कराल आकृतिवाला, कृष्ण पिंगल वर्ण का, वामनाकार, छोटी-छोटी बाहोंवाला, परन्तु महाबली, विकट रूप और मुण्डी कहा गया है। उसका यह रूप हूबहू रुद्र रूप में शिव के प्राचीन अनुचरों-जैसा है, जो अब 'गण' कहलाते थे। नन्दी की एक उपाधि 'मुण्डी' से ऐसा जान पड़ता है कि शिव के कुछ उपासक ऐसे संन्यासी थे जो अपने केश मुंड़ा देते थे। अपर काल में तो इस केश-मुंडन का आम प्रचलन हो गया। अतः नन्दी और गण हमें शिव के उस प्राचीन रूप की याद दिलाते हैं जब प्रचलित लोक-विश्वास के विचित्र रूपधारी अलौकिक जीवों के वे दल-नेता थे। उनके स्वरूप में महान् परिवर्तन हो जाने पर भी इन जीवों का सम्बन्ध उनसे बना ही रहा।

शिव के इसी प्राचीन रूप की ओर रामायण में एक और स्थल पर भी संकेत किया गया है, जहाँ शिव के 'भैषज्य' को सर्वोत्तम माना गया है[2]। एक अन्य स्थल पर हम शिव के स्वरूप का एक नया पहलू देखते हैं, जिसकी पहले कहीं चर्चा नहीं हुई है[3]। यहाँ कहा गया है कि एक बार शिव पार्वती-सहित अपने अनुचरों को साथ ले वन में विहार करने गये। वहाँ पार्वती के विनोदार्थ शिव ने स्त्री-रूप धारण कर लिया और इसके फलस्वरूप उस प्रदेश के प्रत्येक पुरुषसत्व का, यहाँ तक कि पुरुष नामवाले वृक्षों का भी, उसी प्रकार स्त्री-रूप हो गया। तब शिव, पार्वती और उनके सब अनुचर मस्त होकर वन-विहार और आमोद-प्रमोद करने लगे। उसी समय जब 'इल' नामक राजा दैवयोग से उस प्रदेश में आ गये तब तत्क्षण वे भी स्त्री-रूप हो गये। तभी से उनका नाम 'इला' पड़ा। शिव के इस रूप की उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम आगे चलकर देखेंगे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि रामायण में 'लिंग' का कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय लिंगोपासना का अस्तित्व नहीं था। वास्तव में रामायण से हमें शिव की उपासना के सम्बन्ध में, वह सच्ची भक्ति से प्रसन्न होते थे और तपश्चर्या द्वारा उनसे वरदान प्राप्त किये जा सकते थे, इसके सिवा बहुत-कुछ पता नहीं

---

१. रामायण, उ० का० : १६, ८।

२. ,, ,, : ६०, १२। ऋग्वेद में रुद्र को भिषक् और 'भिषक्तम' कहा गया है।

३. ,, ,, : ८७, १२-१५।

लगता। किसी शिव-मन्दिर का अथवा शिव की मूर्त्ति तक का रामायण में कोई उल्लेख नहीं है। परन्तु यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'रामायण' भक्तिवाद का विकसित रूप है, और भक्तिवाद के प्रभाव से शिव का स्वरूप बिलकुल बदल गया था। पिछले अध्याय में हम यह भी देख चुके हैं कि भारत में मन्दिरों और मूर्त्तियों का निर्माण भक्तिवाद के विकास के साथ-ही-साथ हुआ, अतः हमारा यह मानना युक्तिसंगत ही होगा कि रामायण के समय तक मन्दिर में पूजा करने की प्रथा का प्रादुर्भाव हो चुका था, और शिव की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं और उनकी उपासना होती थी।

रामायण-महाभारत युग में रुद्र और शिव के स्वरूप और उनकी उपासना के विषय में हमें रामायण की अपेक्षा महाभारत से बहुत अधिक जानकारी प्राप्त होती है। महाभारत के विभिन्न कालों में एक से अधिक संस्करण हो चुके हैं, अतः हो सकता है कि शिव-सम्बन्धी प्रसंग सब एक ही समय के न हों। परन्तु सब मिलाकर इन प्रसंगों से, उस युग में, रुद्र और शिव की उपासना के विषय में हमें अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इस युग में रुद्र-शिव की उपासना के दो रूप हैं—एक दार्शनिक और दूसरा लोक-प्रचलित। यद्यपि महाभारत में इन दोनों रूपों को इस ढंग से पृथक् नहीं माना गया है, और यह भी सत्य ही है कि शिव की उपासना के लोकप्रचलित रूप पर उसके दार्शनिक रूप का भी काफी प्रभाव पड़ा है। फिर भी सुविधा इसी में होगी कि हम पहले इन दोनों रूपों का अलग-अलग निरीक्षण करें, और फिर समष्टि रूप से यह देखें कि उस काल में शिवोपासना का क्या रूप था?

दार्शनिक रूप में शिव को अब परंब्रह्म माना जाता था। वह असीम हैं, अचिन्त्य हैं, विश्वस्रष्टा हैं और विश्व को अपनेमें समाये हुए हैं। वह परम हैं और उनसे परे कुछ भी नहीं है। वह महाभूतों के एकमात्र उद्गम और एक मात्र आधार हैं, वह नित्य, अव्यक्त और कारण हैं[1]। एक होते हुए भी उनके अनेक रूप हैं[2]। वह सबमें व्याप्त हैं, और सबके उद्गम हैं। वह विश्व के आदि हैं, और उन्हीं में विश्व का विलय होता है। सृष्टि के विलयकर्त्ता के रूप में उनको 'कालरुद्र' कहा गया है[3]। इस प्रकार जो स्थान उनको 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में दिया गया है, उसको यहाँ पूर्णरूप से मान्यता दी गई है, और शिव का पद अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचता है। परन्तु अब तक भी इस सम्बन्ध में शिव और विष्णु में कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं थी और एक स्थल पर दोनों को स्पष्ट रूप से समान कहा गया है[4]। हाँ, उनके अपने उपासकों ने अन्य सब देवताओं

---

१. महाभारत, द्रोण० : ७४, ५६, ६१, १६६, २९; और अनुशासनपर्व २२, १५८।

२. ,, कर्ण० : २४, ६२, ६४।

३. ,, अनु० : २२, १६६, २२, १८८, ६०।

४. ,, अनु० : ११२, ५३।

को छोड़कर केवल उनको ही सर्वश्रेष्ठ मानना शुरू कर दिया था[1]। स्वयं विष्णु अपने कृष्णावतार रूप में कई बार शिव की महिमा का गान और उनकी उपासना तक करते हुए दिखाये गये हैं[2]। परन्तु विष्णु-भक्तों ने विष्णु के सम्बन्ध में भी यही किया और इस प्रकार इन दोनों देवताओं में एक साम्य-सा स्थापित हो गया था। जिस समय जिस देवता की उपासना होती थी, उस समय उसी को सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वास्तव में यह वही संहिताओं वाली प्रथा है, जिसके अनुसार प्रत्येक देवता को उसका स्तवन करते समय सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। वैदिक देवतागण में से विष्णु और शिव इन्हीं दो देवताओं का, वेदोत्तर काल में, उत्कर्ष हुआ और अब यह प्राचीन प्रथा इन्हीं दो देवताओं के सम्बन्ध में प्रचलित थी। परन्तु अन्त में इस प्रथा का स्वाभाविक परिणाम इन दोनों देवताओं का तादात्म्य हो जाना ही था। शिव और विष्णु दोनों के उपासक, यद्यपि उनके मार्ग अलग-अलग थे, अब एक ही एकेश्वरवाद की स्थिति पर पहुँच गये थे और उसी एक ईश्वर को एक दल शिव और दूसरा दल विष्णु कहता था। इससे असली अवस्था—केवल इसी बात—को समझना था कि इन देवताओं के इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ माने जाने पर दोनों में कोई वास्तविक अन्तर नहीं रह जाता। पुराणों के समय तक यह अवस्था भी आ गई थी; परन्तु रामायण-महाभारत में इन दोनों देवताओं का कभी स्पष्ट रूप से तादात्म्य नहीं किया गया है और साधारणतया इनको एक नहीं माना गया है। फिर भी उस समय उपनिषदों की परम्परा तो काफी प्रबल रही होगी और हम यह कह सकते हैं कि उस समय भी कम-से-कम कुछ लोग इन दोनों की एकता को समझते होंगे।

शिव के परब्रह्म स्वरूप के प्रदुर्भाव के साथ-साथ उनका सांख्य से भी सम्बन्ध हुआ। इस सम्बन्ध की पहली झलक हमने उपनिषदों में देखी थी। महाभारत में इसकी स्मृति शेष है और अनेक बार शिव का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह सांख्य को अपने द्वारा जानते हैं[3]। एक स्थल पर शिव को स्वयं सांख्य कहा गया है[4] और जो लोग सांख्य के सिद्धान्तों के विशेषज्ञ हैं तथा तत्त्वों और गुणों का ज्ञान रखते हैं, वही शिव को पाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। शिव का सांख्य के साथ यह सम्बन्ध सम्भवतः किस कारण हुआ, यह हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं। परन्तु सांख्य के पुरुष का जो स्वरूप 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में है, वह वेदोत्तर-कालीन, सांख्य दर्शन के पुरुष से कुछ भिन्न है, और वेदान्त के ब्रह्म के अधिक निकट है। शिव का सांख्य से सम्बन्ध इस औपनिषदिक पुरुष के रूप में हुआ था। उनका यह रूप बाद में भी बना रहा और महाभारत में हम देखते हैं कि उनका स्वरूप वेदोत्तर-कालीन सांख्य के पुरुष की अपेक्षा वेदान्त के ब्रह्म से अधिक मिलता है। इसी कारण शिव का सांख्य के साथ, जो प्राचीन सम्बन्ध था, वह धीरे-धीरे क्षीण होता गया और अन्त में बिलकुल ही लुप्त हो गया।

---

१. महाभारत, अनु० : २२।
२. ,, द्रोण० : ७४, १६, ५१, १६६, २६ और आगे।
३. ,, कर्ण० : २४, ६१—'यः सांख्यमात्मना वेत्ति'।
४. ,, अनु० : २१, ४२।

महाभारत में इस सम्बन्ध की स्मृति तो अवश्य बनी है; परन्तु साथ-साथ इस सम्बन्ध के क्रमशः विच्छेद के भी संकेत मिलते हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल पर यह कहा गया है कि शिव एक दार्शनिक जिज्ञासु का रूप धर सांख्य दर्शन और सांख्य पुरुष का ज्ञान प्राप्त करने 'सनत्कुमार' ऋषि के पास गये[१]। यहाँ सांख्य को बड़ा ऊँचा पद दिया गया है। इसको वह सन्मार्ग बताया गया है, जिसपर चलकर सनत्कुमार-जैसे महर्षियों ने मोक्ष प्राप्त किया। शिव अपने सम्बन्ध में कहते हैं कि वह अबतक 'ऐश्वर्य' और 'अष्टगुण' के 'वैकृत' और 'क्षर' मार्ग का अनुसरण करते रहे हैं। 'ऐश्वर्य' का यहाँ अर्थ ईश्वर का मार्ग प्रतीत होता है और इसका आशय सम्भवतः भक्ति-मार्ग के एकेश्वरवाद से है, जिसका प्रचार शैव और वैष्णव दोनों मत कर रहे थे। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सांख्य को यहाँ 'प्राकृत ज्ञान' अर्थात् प्रकृति का ज्ञान कहा गया है[१]। इससे पता चलता है कि इस समय तक प्रकृति की कल्पना सांख्य शास्त्र का एक प्रमुख अंग बन गई थी, और इसकी एक विशेषता थी। इसी संदर्भ के अन्तिम दो पद्यों में कहा गया है कि शिव और अन्य देवताओं ने सांख्य का सच्चा मार्ग छोड़ दिया था तथा वे असत् मार्ग पर चलने लगे थे। शिव और सांख्य के इस विभेद से प्रसंगवश यह भी पता चलता है कि यह संदर्भ अपेक्षाकृत बाद का है।

शिव का योग के साथ जो सम्बन्ध था, वह भी उनके दार्शनिक स्वरूप का ही एक अंग माना जा सकता है। इस सम्बन्ध की उत्पत्ति हम पिछले अध्याय में बता ही चुके हैं। रामायण महाभारत के समय तक योग और तपश्चर्या भगवत्-प्राप्ति के प्रमुख साधन माने जाने लगे थे। महाभारत में तो इसको और भी स्पष्ट कर दिया गया है। शिव को तप और भक्ति द्वारा हा पाया जा सकता है[३]। वह योगियों के परम पुरुष हैं[४]। वह आत्मा का योग और समस्त तपश्चर्याएँ जानते हैं[५] और स्वयं महायोगी हैं[६]। यह ध्यान देने योग्य बात है कि कई स्थलों पर विष्णु को भी 'योगेश्वर' कहा गया है[७]। इससे पता चलता है कि महाभारत के समय तक विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था; क्योंकि कोई मत भी इसके बढ़ते हुए महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था।

अब हम शैव धर्म के लोकप्रचलित रूप की ओर आते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि शिव के विभिन्न अनुयायियों के विभिन्न आचार-विचारों के अनुसार शैव धर्म के भी अनेकानेक

---

१. महाभारत, अनु० : १८, ८, २२।
२. ,, अनु० : १८, २०।
३. ,, वन० : ८५, २५ और आगे। द्रोण० : ७४, १६ और आगे।
४. ,, द्रोण० : ७४, ४१।
५. ,, कर्ण० : २४, ३०।
६. ,, द्रोण० : ५०. ४१ और आगे।
७. ,, अनु० : १८, ७४ इत्यादि। 'गीता' के अंतिम श्लोक में भी कृष्ण को योगेश्वर कहा गया है।

रूपों का विकास हो रहा था। इनमें से सबसे प्रमुख रूप वह है जिसको शिव के दार्शनिक स्वरूप की लोकप्रचलित व्याख्या कह सकते हैं। शिव को एक ईश्वर, जगत् का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहर्ता माना गया है। वह देवताओं, मानवों और दानवों—सभी के परम प्रभु हैं[1]। उनकी ही प्राचीन काल से उपासना होती आई है, वर्तमान में होती है और भविष्य में होती रहेगी[2]। वह असीम हैं, अचिन्त्य हैं और देवताओं द्वारा भी अनधिगम्य हैं[3]। उनके साधारण नाम हैं—'ईशान', 'महेश्वर', 'महादेव', 'भगवान्' और 'शिव'[4]। उनको अन्य सब देवताओं से बड़ा माना गया है। सारे देवता ब्रह्मा-विष्णु के साथ, उनकी शरण में आते हैं[5]। एक स्थल पर ब्रह्मा और विष्णु को भगवान् शिव के दोनों ओर खड़े हुए बताया गया है[6]। एक अन्य स्थल पर यह वर्णन किया गया है कि यह दोनों देवता शिव के पार्श्वों में से निकल रहे हैं। यहाँ ब्रह्मा और विष्णु को भगवान् शिव का ही अंश माना गया है। इसी वर्णन के पीछे त्रिमूर्ति की कल्पना है, जिसका बाद में इतना प्रचार हुआ। शिव की उपासना का सार 'भक्ति' है और रामायण की तरह यहाँ भी शिव की कल्पना सतत मानव जाति के कल्याणकारी और भक्तानुकम्पी देवता के रूप में की गई है[7]। शिव का यह स्वरूप द्रोणपर्व की उस कथा से बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है, जहाँ शिव मानव-कल्याण के हित में ब्रह्मा से अपनी विध्वंसकारिणी अग्नि को शान्त करने के लिए अनुनय करते हैं। वह अग्नि उनके कोप से प्रज्वलित हुई थी और जिससे समस्त सृष्टि के भस्म हो जाने का भय था[8]। प्राचीन काल में अनेक ऋषियों ने अपनी भक्ति के बल से शिव से अनेक वरदान पाये थे[9]। महाभारत काल में इन्हीं ऋषियों का अनुकरण अर्जुन, उपमन्यु और अन्य लोगों ने किया था[10]। इसके अतिरिक्त एक विशेष उपासना भी थी, जिससे शिव प्रसन्न होते थे। यह 'पाशुपत व्रत' था, जिसका कर्णपर्व में उल्लेख किया गया है[11]। व्रतकर्ता की परिस्थितियों और उसके उद्देश्यों के अनुसार इस व्रत की—बारह दिन से बारह वर्ष तक की—विभिन्न अवधियाँ होती थीं। परन्तु इस व्रत का विस्तृत वर्णन नहीं दिया गया है।

शैव धर्म का सबसे अधिक लोकप्रचलित रूप वह था, जिसमें शिव को पार्वती का

---

१. महाभारत, द्रोण० : ७४, ४१, ४३।
२. ,, कर्ण० : २४, ६८।
३. ,, अनु० : २३, १७।
४. ,, कर्ण० : २४, ६१, ६३ ; शल्य० ११, ६ ; सौप्तिक० ६, १२।
५. ,, अनु० : २२, १४४-४५।
६. ,, अनु० : २२, १४४-४५।
७. ,, द्रोण० : ४१, १५, ७४, ६२ ; अनु० ११२, १६ इत्यादि।
८. ,, द्रोण० : ५०, ८० और आगे।
९. ,, अनु० : २४, १, ३८।
१०. ,, वन० : ३९, ८७ और आगे ; अनु० : २२, ८५-९०।
११. ,, कर्ण० : २५, २४।

पति माना जाता था और दोनों की साथ-साथ उपासना होती थी। दयानिधान, कल्याणकारी शिव की पत्नी भी वैसी ही दया की मूर्ति और सौम्य स्वभाव की थीं और दोनों कैलास पर्वत पर अनन्त और परम आनन्द की अवस्था में रहते थे। प्रत्येक युग में मनुष्यों के लिए वे विवाहित प्रेम का आदर्श रहे हैं[1]। शिव का यह स्वरूप भक्तिवाद के आराध्यदेव का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसी रूप में शिव की प्रशंसा में स्तुतियाँ गाई जाती थीं। इनमें शिव को सदा परमेश्वर का पद दिया जाता था और शिव की दया तथा अनुग्रह के लिए उनसे प्रार्थना की जाती थी। देवताओं तक को शिव को इसी प्रकार प्रसन्न करना पड़ता था[2]। जन-साधारण में अधिकांश शिव के इसी रूप की उपासना करते थे; क्योंकि शिव का यह रूप सुखद और सुगम था तथा मनुष्य की मृदु और ललित भावनाओं का इसके प्रति अत्यधिक आकर्षण था। शिव और पार्वती के रूप का मानवीकरण भी बहुत आगे बढ़ गया है। शिव को अब अत्यन्त सुन्दर आकृतिवाला माना जाता था और पार्वती का रूप एवं लावण्य स्त्री-जाति में सर्वोत्तम था। दोनों के वेश और अलंकारों का भी वर्णन किया गया है[3]। विभिन्न कथाओं में उनकी भावनाएँ भी बिलकुल मानवी हैं। वृषभ अब नियत रूप से शिव का वाहन बन गया था[4]। परन्तु जब शिव के देवत्व पर अधिक जोर दिया जाता था, तब फिर उनके इस मानवी रूप को छोड़ दिया जाता था। उनकी अपुरुषविध आकृति का सबसे प्रमुख लक्षण है—उनके तीन नेत्रों का होना[5]। कई बार उनको सहस्राक्ष, अष्टादशभुज इत्यादि भी कहा गया है। यह वर्णन वैदिक पुरुष के वर्णन के समान है और स्पष्ट ही शिव की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमता का प्रतीक है[6]। शिव के गण भी उनके साथ रहते थे और महाभारत में उनको प्रायः 'भूत' कहा गया है। उनके बड़े विचित्र रूप थे—कुछ विकृतांग थे, किन्हीं के मानव शरीर और पशु-पक्षियों के सिर थे तथा किन्हीं के मानव-सिर थे; परन्तु शरीर पशुओं के थे[7]। यह गण वैदिक रुद्र के स्वरूप की स्मृति-मात्र हैं। इस प्रसंग में शिव को 'निशाचर-पति' की उपाधि दिया जाना भी अर्थपूर्ण है[8]।

यद्यपि अब शिव का स्वभाव अधिकतर सौम्य माना जाता था, फिर भी शिव-भक्त शिव के प्रकोप को भूलते नहीं थे। यदि पापियों के कुकर्मों से अथवा ईश्वरीय इच्छा को उल्लंघन के कारण शिव का क्रोध जाग्रत हो जाय, तो उनकी सौम्य आकृति बड़ा भयावह रूप धारण कर लेती है। महाभारत में शिव के इस रूप का वर्णन 'कर्ण पर्व' में किया गया है, जहाँ उनको 'ब्रह्मद्विट्-संहातिन्' अर्थात् देवताओं और ब्राह्मणों के शत्रुओं का संहार करने

१. महाभारत, द्रोण० : ७४, ३५।
२. ,, द्रोण० : २४, ५४ और आगे।
३. ,, अनु० : २२, ११६ और आगे।
४. ,, अनु० : ११३, ३२ और आगे।
५. ,, वन० : २२६, २६, २७ इत्यादि।
६. ,, अनु० : २२, ११६ इत्यादि।
७. ,, वन० : ८३, ३ ; १८८, १३; द्रोण० ७४, ३७ ; कर्ण० २७, २४ और आगे।
८. ,, द्रोण० : ४६, ४६।

वाला कहा गया है।[1] उनका 'पिनाक' नाम का धनुष और उनका 'शूल' नामक वज्र, उनके प्रिय अस्त्र हैं[2]। इसी कारण उनको 'प्रवरायुधयोधी' भी कहा जाता है[3]। उनकी शक्ति का कोई मुकाबला नहीं कर सकता[4]। उनका जो विरोध करते हैं, उनके लिए तो वह साक्षात् काल हैं[5]। इस रूप में वह कुपित, भयावह और महासंहारकर्ता हैं[6]। उनकी समस्त आकृति भयंकर है और सम्भवतः इसी रूप में उनको कृष्णवस्त्रधारी माना गया है, यद्यपि साधारणतया वह श्वेतवस्त्रधारी ही थे[7]।

इस प्रकार अपने लोकप्रचलित स्वरूप में शिव के दो रूप हो गये—एक सौम्य, दूसरा भयंकर। महाभारत काल में शिव के इस द्वयविध रूप का ज्ञान भली प्रकार था। एक स्थल पर स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि शिव के यह दो भिन्न रूप हैं[8]।

परन्तु इसके साथ-साथ जो लोग शिव की शरण में जाते हैं, उनकी सब बाधाएँ वे हर लेते हैं[9]। इसी कारण जब-जब देवों और मनुष्यों पर कोई भीषण संकट आ पड़ता है, तब वे भगवान् शिव के पास जाकर परित्राण की प्रार्थना करते हैं। भगवान् सदा उनकी बिनती सुनते हैं। उनके पास आये हुए याचकों की पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाने पाती। इस रूप में शिव का सबसे प्रसिद्ध कार्य है—त्रिपुरदाह। इस कथा को हम आगे चलकर विस्तार-पूर्वक देखेंगे। रामायण में भगवान् शिव द्वारा अन्धक-वध की कथा का प्रसंग आया ही है। जैसे-जैसे समय बीतता गया, अनेक कथाएँ भी प्रचलित हो गई।

भगवान् शिव की लोकप्रचलित उपासनाविधि के सम्बन्ध में जो कुछ हमने रामायण से जाना, उससे कुछ अधिक हमें महाभारत से पता चलता है। शिव को प्रसन्न करने का एक ही उपाय था और वह था—सच्ची भक्ति। जो उनको प्रसन्न करना चाहते थे और उनसे वरदान प्राप्त करना चाहते थे, वे इस भक्ति के अतिरिक्त कठोर तपस्या भी करते थे, और एकाग्र बुद्धि से शिव का ध्यान करते थे। जो विघ्न और प्रलोभन इस अचल साधना में बाधक होते थे, उनका दमन करते थे। शिव के ऐसे अनन्य भक्तों में अर्जुन और उपमन्यु प्रमुख हैं। अर्जुन ने अपनी तपस्या द्वारा वांछित पाशुपत अस्त्र पाया[10]। उपमन्यु ने, जिसकी तपस्या अर्जुन से भी कठोर थी, शिव को छोड़ अन्य किसी देवता की आराधना करने से इनकार कर दिया। अन्त में जो कुछ उसने चाहा, उसे मिला। इसके अलावा शिव ने

---

१. महाभारत, कर्ण० : २४,७१ ।
२. ,, वन० : ३३,८७,३५,१ ; उद्योग ११७,७ ।
३. ,, कर्ण० : २४,७१ ।
४. ,, ,, : २४,७३ ।
५. ,, ,, : २६,२६ ।
६. ,, ,, : २४,६६ ७० ।
७. ,, अनु० : १५१,३ ।
८. ,, ,, : १५१,३ ।
९. ,, कर्ण० : २४,७१ ।
१०. ,, वन० : ३३, ८७ और आगे ।

प्रसन्न होकर उसे अमरत्व का वरदान भी दिया और उपमन्यु संसार में एक आदर्श भक्त का उदाहरण रख गया[1]। साधारण रूप से शिव की पूजा स्तुतिगान और प्रार्थनाओं द्वारा की जाती थी। इस प्रकार की अनेक प्रार्थनाएँ महाभारत में मिलती हैं[2]। परन्तु शिव की साधारण दैनिक पूजाविधि के सम्बन्ध में हमें महाभारत से बहुत-कुछ पता नहीं चलता। रामायण की भाँति यहाँ भी शिव मन्दिरों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है; परन्तु शिवमूर्तियों की चर्चा अवश्य की गई है। इसीसे हम अनुमान लगाते हैं कि उस समय शिव-मन्दिर भी होते होंगे। एक स्थल पर कहा गया है कि शिव अपनी मूर्तियों की उपासना से प्रसन्न होते हैं और ये मूर्तियाँ मानवाकार और लिंगाकार दोनों होती हैं[3]। इससे स्पष्ट पता चलता है कि दोनों प्रकार की मूर्तियाँ उस समय बनती थीं और उनकी उपासना होती थी। लिंग-मूर्तियों के जननेन्द्रिय-सम्बन्ध की स्मृति अबतक शेष थी। परन्तु इन मूर्तियों की उपासना-विधि का प्राचीन तथा वास्तविक लिंगोपासना से कोई सम्बन्ध नहीं था। किन्तु इतना यह जरूर था कि केवल भगवान् शिव की ही लिंग रूप में उपासना होती थी और इसी कारण उपमन्यु ने उनको अन्य देवताओं से बड़ा माना है। इन्द्र, ब्रह्मा और विष्णु तक को शिव के लिंग रूप का उपासक कहा गया है, अतः वे इन सबसे बड़े थे। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के समय तक लिंग-मूर्तियों की उपासना का शैव धर्म में पूर्णरूप से समावेश हो गया था। यह भी एक रोचक बात है कि शिव के उपासकों ने एक निन्द्य प्रथा को किस कुशलता से अपने आराध्यदेव के उत्कर्ष का साधन बना लिया।

ऊपर शैव धर्म के जिन रूपों का विवरण दिया गया है, उसको हम शैव धर्म के प्रामाणिक और सबसे अधिक प्रचलित रूप कह सकते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त भी शैव धर्म के अन्य अनेक रूप थे, जिनका प्रचार विशेष समुदायों में था। ऐसा जान पड़ता है कि शिव-भक्तों पर किसी एक रीति विशेष के अनुसार उपासना करने के लिए कोई दबाव नहीं डाला जाता था। अतः विभिन्न लोग जिस रूप में शिव की कल्पना करते थे, उसी के अनुकूल उसकी उपासना भी करते थे। इसका फल यह हुआ कि शिवोपासना के इतने विविध रूप हो गये, जितने संभवतः अन्य किसी मत के नहीं हुए। महाभारत में इन विभिन्न रूपों में कम-से-कम दो का तो उल्लेख मिलता है, जिनका प्रचार अधिक नहीं था। परन्तु जिनको इस अर्थ में लोकप्रचलित कहा जा सकता है कि जनसाधारण के ही कुछ वर्गों में उनका प्रचार था, उनमें से एक में शिव की कल्पना 'कापालिक' के रूप में की गई है। हम यह देख चुके हैं कि वैदिक रुद्र को एक रूप में मृत्यु का देवता समझा जाता था। इस रूप में उनका सम्बन्ध पिशाचों, डाकिनियों और इसी प्रकार के

---

१. महाभारत, अनु० : २२, ७५, ६० ।

२. ,, अनु० : १५१, १६ इत्यादि ।

३. ,, अनु० : २२, ६७ । शिव की लिंगमूर्तियों के अन्य उल्लेख महाभारत के उत्तरी संस्करण में निम्नलिखित स्थलों पर मिलते हैं :—द्रोण० २२ ; सौप्तिक० १७ ; अनु० १४, ११ ; अनु० १७२ ।

दूसरे अमंगल और अन्धकार-सम्बन्धी जीवों से था। सूत्र-ग्रन्थों में हमने यह भी देखा है कि रुद्र के इसी रूप के कारण सम्भवतः उनका सम्बन्ध श्मशानों से हुआ। अतः शिव का 'कापालिक' स्वरूप भी वैदिक रुद्र के इसी रूप का विकास-मात्र प्रतीत होता है। भक्तिवाद के आराध्यदेव शिव की सौम्य आकृति के सर्वथा विपरीत यहाँ उनकी आकृति भयावह है। वह हाथ में कपाल लिये रहते हैं[1], और लोक-वर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहाँ वह राक्षसों, वेतालों, पिशाचों और इसी प्रकार के अन्य जीवों के साथ विहार करते हैं[2]। उनके अनुचर वही गण हैं, और महाभारत में इन सबको 'नक्तंचर' और 'पिशिताशन' (मृत शरीरों का मांस खानेवाले) कहा गया है[3]। एक स्थल पर स्वयं शिव को मांस खाते हुए और रक्त और मज्जा का पान करते हुए कहा गया है[4]। जैसा कि हम ऊपर सूत्र-ग्रन्थों का अवलोकन करते हुए कह आये हैं, यह देवता निश्चय ही लोकप्रचलित अन्धविश्वासों और जादू-टोनों के क्षेत्र का देवता था। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ लोग अभी तक रुद्र के इस रूप की उपासना करते थे और उसका विकास भी करते जाते थे। महाभारत के समय तक तो ऐसा प्रतीत होता है कि शिव के इस रूप के साधारण उपासकों के अतिरिक्त अन्य वर्गों में इसको कुछ मान्यता दी जाने लगी थी। हम ऊपर देख आये हैं कि सूत्र-ग्रन्थों में जो 'शूलगव' यज्ञ का विधान किया गया है, उसका अर्थ यह था कि विशेष परिस्थितियों में कभी-कभी कुछ जादू-टोने-सम्बन्धी क्रियाओं का भी विधिवत् विधान कर दिया जाता था। हो सकता है कि कापालिक रूप में शिव की उपासना की भी इसी प्रकार कभी-कभी अनुमति दे दी जाती हो। उदाहरणार्थ 'अश्वत्थामा' ने सब ओर से हताश हो, शिव के इसी रूप की आराधना की थी[5]। शिव के इस रूप को कुछ-कुछ मान्यता मिल जाने के फल-स्वरूप ही सम्भवतः शिव की तद्रूपसम्बन्धी उपाधियों का उल्लेख होने लगा और महाभारत में ये उपाधियाँ शिव की अन्य उपाधियों के साथ बिलकुल मिल-जुल गई हैं। जहाँ शिव का किसी अन्य रूप में स्तवन होता है, वहाँ भी उन उपाधियों का उल्लेख किया जाता है[6]। स्वभावतः, इसके विपरीत जहाँ शिव के 'कापालिक' रूप का वर्णन होता है, वहाँ शिव की अन्य उपाधियों का भी उल्लेख किया जाता है।

अथर्ववेद में हमने देखा था कि जब रुद्र की भयावह मृत्यु देवता के रूप में उपासना की जाती थी, तब उनको नर-बलि दी जाती थी। ब्राह्मणों द्वारा इस प्रथा को गर्हित ठहराये जाने पर भी, जान पड़ता है कि कुछ वर्गों में रुद्र के कापालिक रूप की उपासना के सम्बन्ध में इस प्रथा का प्रचार बना रहा। इसका संकेत हमें महाभारत में

---

१. महाभारत, वन० : १८८, ५०।

२,३. ,, वन० : ८३, ३। द्रोण० ५०, ४६। शल्य० ३६, २४। सौप्तिक० ६, ३३ इत्यादि

४. ,, अनु० : १५१, ७।

५. ,, सौप्तिक० : ६ और ७।

६. ,, द्रोण० : ५०, ४६ इत्यादि।

मिलता है। उदाहरणार्थ 'जरासन्ध' नियमित रूप से युद्धबन्दियों को शिव पर बलि चढ़ा देता था[1]। 'अश्वत्थामा' ने भी जब शिव के कापालिक रूप की आराधना की, तो अपने-आपको बलि चढ़ा दिया। इस प्रथा की कृष्ण ने घोर निन्दा की थी। उन्होंने जरासन्ध की, इसी प्रथा का अनुसरण करने पर जो प्रचलित विधियों के बिलकुल विपरीत थी, तीव्र भर्त्सना की। इससे सिद्ध होता है कि इस प्रथा को साधारणतया निन्द्य समझा जाता था; परन्तु लुके-छिपे शिव के कापालिक रूप के उपासकों में कुछ लोग इस प्रथा का अनुसरण करते थे। यह लोग योग-सिद्धान्त की दो-चार बातें सीख कर, जिसका रामायण-महाभारत काल में बहुत प्रचार और आदर था, तथा अपना वेश भी अपने आराध्यदेव-जैसा बना कर, अपने-आपको तपस्वी और योगी कहते थे। वे अपनी तपस्या से लोकोत्तर शक्तियाँ प्राप्त करने का दावा करते थे। यही लोग आगे चलकर कापालिक कहलाये, और इन्हीं में नर-बलि की प्रथा दीर्घकाल तक बनी रही। इनके सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में कुछ और कहेंगे। महाभारत में उनका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। सम्भव है कि उस समय तक इनका एक अलग सम्प्रदाय न बना हो।

शिव का दूसरा रूप, जिसकी उपासना समुदाय विशेषों में ही होती थी, एक मद्य-प्रिय तथा विलास-प्रिय देवता का था। रामायण में हमने शिव के स्त्री रूप धारण करने की कथा में इस रूप की एक झलक देखी थी। महाभारत में यह रूप कुछ अधिक स्पष्ट दिखाई देता है[2]। जब अर्जुन ने पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए तपस्या की, तब पहले भगवान् शिव 'किरात' के रूप में प्रकट हुए। 'किरात' एक वन्य जाति विशेष का नाम था जो अबतक हिमालय की उपत्यकाओं में रहती है। भगवान् शिव ने एक साधारण किरात का वेश धारण किया था—अर्थात् वह खाल के वस्त्र पहने थे और उनके पीछे सहस्रों स्त्रियाँ और 'भूत'-गण हँसते-खेलते, नाचते-गाते और प्रमत्त विलास-क्रीडाएँ करते चले आ रहे थे। इस समय वैसे ही किरात वेश में भगवती उमा भी उनके साथ थीं। इन स्त्रियों और भूतों के आमोद-प्रमोद के वर्णन से हमें सहसा पश्चिम एशिया में ग्रीस के मद्यदेवता बैकस (Bachchus) और उसके प्रमत्त अनुचरों की विलास-क्रीडाओं का स्मरण हो आता है। एक अन्य स्थल पर[3] कहा गया है कि एक बार शिव 'तिलोत्तमा' नाम की अप्सरा पर ऐसे मुग्ध हुए कि वह सहसा चतुर्मुख हो गये, जिससे किसी दिशा में भी तिलोत्तमा उनकी दृष्टि से ओझल न हो सके। शिव के इस रूप के सम्बन्ध में और अधिक सामग्री पुराणों में मिलती है। इसका विस्तृत अध्ययन हम आगे चल कर करेंगे। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि शिव के इस रूप की उत्पत्ति कैसे हुई? परन्तु उनके किरात वेश से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि महाभारत काल से पूर्व किसी समय शिव ने इसी किरात जाति के एक देवता को आत्मसात् कर लिया था, जिसकी उपासना उस जाति में मद्यपान और विलास-क्रीडाओं द्वारा की जाती थी। 'नीलमत पुराण' में भी, जिसका

---

१. महाभारत, सभा० : २१, ९८ और आगे।
२. ,, वन० : ३५।
३. ,, अनु० : ११३,२ और आगे।

अवलोकन हम अगले अध्याय में करेंगे, यह प्रसंग आया है कि कश्मीर प्रदेश में इसी प्रकार की क्रीडाएँ शिव की उपासना का एक अंग थीं। इससे भी हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है। सम्भवतः इसी रूप में शिव को एक नर्तक भी माना जाता था, और कालान्तर में जब शिव का विलास-प्रिय रूप क्षीण हो गया, तब भी नृत्य से उनका यह सम्बन्ध बना ही रहा। उसीका विकास होते-होते शिव की 'नटराज' के रूप में कल्पना होने लगी और उनको नृत्यकला का सर्वश्रेष्ठ साधक माना जाने लगा।

रामायण-महाभारत काल में शैव धर्म के लोकप्रचलित रूप के विवेचन में अब उन कथाओं का देखना शेष रह जाता है, जिनका प्रादुर्भाव इस समय तक हो गया था। इनमें कुछ कथाओं की चर्चा रामायण में हो चुकी है। महाभारत में भी वे कथाएं मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य कथाएँ भी दी हुई हैं, जिनकी ओर रामायण में संकेत मात्र किया गया है। इनमें से कार्तिकेय के जन्म की कथा सर्वप्रमुख है। महाभारत में इसका विस्तृत उल्लेख किया गया है, और इससे शिव तथा स्कन्द के परस्पर सम्बन्ध पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। इसके साथ-साथ, देवकथाओं का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है, इसका भी यह कथा एक बड़ा रोचक उदाहरण है। इस कथा का सबसे प्राचीन रूप वन पर्व में मिलता है[1]। देवताओं की सेनाओं को कोई योग्य सेनापति नहीं मिलता था। इस कारण दानवों के विरुद्ध संग्राम में उनकी बार-बार पराजय होती थी। इसपर इन्द्र ने सोचा कि यदि अग्नि की ऐसी सन्तान हो, जिसमें सब देवताओं की शक्तियाँ पुंजीभूत हों[2], तो वही देवसेनाओं का सेनापतित्व करने के लिए सबसे अधिक योग्य होगी। तदनन्तर देवतागण सप्तर्षियों द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में गये और स्वभावतः अग्नि देवता भी उनके साथ गये। यहाँ अग्नि को सूर्यमण्डल में से प्रकट होते हुए कहा गया है। यज्ञ में अग्नि ऋषिपत्नियों के रूप पर मुग्ध हो गये, और अपने इस अनुराग से आतुर हो, वनों में घूमने लगे। इसी बीच दक्ष-पुत्री 'स्वाहा' ने अग्नि को यज्ञ के समय देखा था और तभी से वह उनपर अनुरक्त हो गई थी। जब अग्नि वनों की ओर चले गये, तब स्वाहा उनके पीछे-पीछे गई और वहाँ उसने यह छल किया कि बारी-बारी से ऋषिपत्नियों में से छः का रूप धारण करके वह अग्नि के पास गई। अग्नि देवता बड़ी सुगमता से इस धोखे में आ गये। इस प्रकार छः बार अग्नि से समागम करके 'स्वाहा' ने उनके वीर्य को एक श्वेत पर्वत पर कुछ शरों के बीच डाल दिया। वहाँ पूरे समय बीतने पर एक शिशु ने जन्म लिया, जिसके सब संस्कार इन्द्र ने विधिवत् सम्पन्न किये। यहाँ हम देखते हैं कि स्कन्द को अग्नि का पुत्र माना गया है और शिव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस कथा में अग्नि का सूर्य से तादात्म्य किया गया है। अतः जान पड़ता है कि प्रारम्भ में स्कन्द एक सूर्य-सम्बन्धी देवता थे और सम्भवतः सूर्य के उस देदीप्यमान प्रकाश के प्रतीक थे, जिसके सामने समस्त अन्धकार दूर हो जाता है। इस कारण अन्धकार के प्रतीक

---

१. महाभारत, वन० : १८३।

२. वैदिक उक्ति भी है—'अग्निः सर्वाः देवताः'।

दानवों के दमन के लिए स्कन्द ही उपयुक्त देवता थे। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्कन्द का विशेष वाहन मयूर है, जिसका प्राचीन काल से, अपनी पूँछ पर के सुनहले चिह्नों के कारण अथवा किसी और कारण, सूर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मयूर के सूर्य के साथ इस सम्बन्ध का एक उदाहरण सिन्धु घाटी में 'चन्हुदड़ों' स्थान पर हाल के निकले भाण्डावशेषों पर लिखित अनेक चित्रों में मिलता है। वहाँ सूर्य के प्रतीकों के साथ अनेक बार मयूर भी दिखाया गया है[1], अतः मयूर का स्कन्द का वाहन होना इस बात का एक और प्रमाण है कि प्रारम्भ में स्कन्द एक सूर्य-सम्बन्धी देवता थे। परन्तु जब इस नवजात शिशु को देवताओं के सम्मुख लाया गया, तब उसको 'रुद्रपुत्र' कहा गया; क्योंकि अग्नि का एक नाम रुद्र भी था। यह है शिव को स्कन्द का पिता माना जाने का रहस्य। जब 'रुद्रपुत्र' के वास्तविक अर्थ को लोग भूल गये, तब शिव को ही स्कन्द का असली पिता माना जाने लगा। शिव के इस स्कन्दपितृत्व का समाधान करने के लिए ही स्कन्द के जन्म की कथा में कुछ फेर-बदल किया गया और उसे कुछ बढ़ाया भी गया। इस परिवर्तित कथा का पहला रूप स्वयं महाभारत में ही मिलता है। उसके वन-पर्व में एक अन्य स्थल पर स्कन्द-जन्म की कथा फिर कही गई है[2], और इसमें बताया गया है कि शिव और पार्वती ने क्रम से अग्नि तथा स्वाहा का रूप धारण किया था, अतः स्कन्द वास्तव में इन्हीं दोनों की सन्तान थे। कथा की इससे अगली अवस्था तब आई, जब इसको शिव और पार्वती के विवाह का उत्तर भाग बना दिया गया। अपने इस रूप में भी यह कथा महाभारत में मिलती है[3]। देवताओं ने जब शिव और पार्वती की रतिकेलि का वृत्तान्त सुना, तब वह भय से काँप उठे। उन्होंने शिव के पास जाकर प्रार्थना की कि वह पार्वती से कोई सन्तान उत्पन्न न करें; क्योंकि ऐसे तेजस्वी माता-पिता की सन्तान का तेज कोई सह्य नहीं कर सकेगा, और अपने तेज से वह समस्त विश्व को ध्वस्त कर देगी। शिव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली; परन्तु पार्वती असामयिक विघ्न उत्पन्न कर देनेवाले देवताओं पर अति कुपित हो गई और उन्होंने देवताओं को शाप दिया कि उनके कभी कोई सन्तान नहीं होगी। शिव ने अपना वीर्य ऊपर खींच लिया और तभी से वह 'ऊर्ध्वरेतः' कहलाते हैं। परन्तु उनके वीर्य का जो अंश क्षुब्ध हो गया था, वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और तत्क्षण ही उसने प्रचण्ड ज्वाला का रूप धारण कर लिया। इसी कथा में आगे चलकर कहा गया है कि इस वीर्य को अग्नि ने, जो पार्वती के शाप के समय देवताओं के साथ उपस्थित नहीं थे, धारण कर लिया। जब देवता अपनी सेनाओं के लिए एक सेनापति की खोज करने लगे, तब ब्रह्मा ने उन्हें यह परामर्श दिया कि वह अग्नि से कहें कि वह शिव के इस वीर्य को गंगा के गर्भ में डाल दे और इस प्रकार इन दोनों की जो सन्तान होगी, वह दानवों पर विजय पायगी। अग्नि और गंगा दोनों इस बात के लिए सहमत हो गये; परन्तु गंगा के गर्भ में इस वीर्य ने जब

१. मैके०—रायल सोसाइटी आफ आर्ट्स, इंडिया सेक्शन, १९३७।

२. महाभारत, वन० : १८८।

३. ,, शल्य० : ३६; अनु० ७४,४२ और आगे।

भ्रूण का रूप धारण किया, तब वह इसे सहन न कर सकी। गंगा उसे मेरु पर्वत पर शरों के मध्य रख आई, जहाँ पूरे समय पर एक शिशु का जन्म हुआ और जिसे कृत्तिकाओं ने पाया तथा पाला-पोसा। महाभारत के उत्तरी संस्करण में इस कथा के अन्तिम भाग का एक विचित्र और स्पष्ट ही अपरकालीन रूप अनुशासन पर्व में दिया गया है[1]। इसमें कथा इस प्रकार है कि जब गंगा ने भ्रूण को फेंक दिया, तब छः कृत्तिकाओं ने उसे उठा लिया, और उसके छः भाग करके एक-एक भाग को अपने-अपने गर्भ में रख लिया। इस प्रकार विभक्त हुआ वह भ्रूण बढ़ता गया और पूरे समय पर प्रत्येक कृत्तिका ने एक शिशु के विभिन्न अंगों को जन्म दिया। परन्तु पैदा होते ही यह विभिन्न अंग जुड़ गये और इस प्रकार स्कन्द का जन्म हुआ।

कथा के इस रूप में भी, स्कन्द का वास्तविक पिता तो अग्नि को ही माना गया है और स्कन्द को अनेक बार 'अग्निसूनुः' कहा भी गया है। रामायण में इस कथा का जो रूप है, और वह महाभारत की कथा का ही एक अन्य रूप है। उसमें भी यही स्थिति है। इस कथा के विकास की अन्तिम अवस्था पुराणों में आती है और वहीं उसका अवलोकन किया जायगा।

शिव-सम्बन्धी दूसरी प्रमुख कथा, जिसका इस समय तक प्रादुर्भाव हो गया था, शिव द्वारा दानवों के तीन पुरों के ध्वंस की कथा है। यह कथा भी देवकथाओं के क्रमिक विकास का एक अच्छा उदाहरण है, यद्यपि स्कन्द-जन्म की कथा की तरह पूर्ण रूप से नहीं। इस कथा का सूत्रपात सम्भवतः 'ऐतरेय ब्राह्मण' की उस कथा से होता है, जिसमें यह दिखाया गया है किस प्रकार देवासुर संघर्ष में असुरों ने पृथ्वी, आकाश और द्यौ को तीन दुर्गों में परिणत कर दिया—और जो क्रम से लोहे, चान्दी और सोने के थे—तथा किस प्रकार देवताओं ने 'उपसदों' द्वारा इन तीन दुर्गों को जीता[2]। कथा लाक्षणिक है और ध्यान देने की बात यह है, इसमें कहीं भी रुद्र की चर्चा नहीं की गई है। परन्तु इस कथा के फलस्वरूप असुरों के तीन दुर्गों अथवा पुरों की कल्पना देवकथाओं में स्थिर रूप से आ गई है। जब शिव की उपासना का विकास हुआ, तब इस 'त्रिपुर' की कल्पना को शिव के उत्कर्ष का साधन बना लिया गया और त्रिपुर-ध्वंस का श्रेय उनको दिया जाने लगा। इस प्रकार धीरे-धीरे इस कथा का निर्माण हुआ तथा रामायण-महाभारत काल में यह अपने विकसित रूप में पाई जाती है। महाभारत में इसका कई स्थानों पर उल्लेख है; परन्तु इन विभिन्न उल्लेखों में वैसा काल-भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसा स्कन्द-जन्म की कथा में। यह सब उल्लेख एक ही कथा के विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप हैं और सार भाव से सब एक ही हैं। इस कथा का सबसे विस्तृत रूप 'कर्ण पर्व' में मिलता है[3]। ब्रह्मा का वरदान पाकर असुरपति ने सुवर्ण, रजत और लोहे के तीन नगरों का क्रम से द्यौ, आकाश और पृथ्वी में निर्माण किया। इन

---

१. महाभारत : (पी० सी० राय का संस्करण) अनु० ७५, ४ और आगे।

२. ऐतरेय ब्राह्मण : १, ४, ६।

३. महाभारत, कर्ण० : ३३।

पुरों का ध्वंस केवल वही कर सकता था जो इन तीनों को एक ही बाण से भेद दे। इन नगरों में एक सरोवर बहता था, जिसके जल से युद्ध में मारे गये योद्धा फिर जी उठते थे। इस प्रकार सुसज्जित हो असुरों ने पृथ्वी पर और स्वर्ग में तबाही मचा दी, और बार-बार देवताओं को पराजित किया। इन्द्र भी इन पुरों पर अपने आक्रमण में असफल रहे। तब इस घोर संकट के समय वह और अन्य सब देवता ब्रह्मा के पास गये, जिन्होंने उनका भगवान् शिव से साहाय्य याचना करने का आदेश दिया। देवताओं ने तप करके शिव को प्रसन्न किया। तब ब्रह्मा ने उनसे असुरों का नाश करने की प्रार्थना की। शिव ने देवताओं की आधी शक्ति की सहायता से इस कार्य को पूरा करने का वचन दिया; परन्तु इसके साथ शर्त यह रखी कि उनको समस्त पशुओं अर्थात् समस्त प्राणियों का स्वामी माना जाय। विश्वकर्मा ने शिव के लिए एक दिव्य रथ का निर्माण किया—जिसका शरीर पृथ्वी थी, सूर्य-चन्द्र जिसके चक्के थे, चारो वेद जिसके अश्व थे इत्यादि। जिस समय शिव रथारूढ हुए, उस समय उनको साक्षात् काल कहा गया है। इसी कारण लक्षण रूप से कालरात्रि अर्थात् प्रलयकाल की निशा को शिव के धनुष की प्रत्यंचा कहा गया है। स्वयं ब्रह्मा इस रथ के सारथि बने और विष्णु उनका बाण। तब शिव ने उन पुरों की ओर प्रयाण किया और अपने अमोघ बाण से उनको बेधकर उनका ध्वंस किया। इस महान् कार्य के फलस्वरूप 'त्रिपुरघ्न' और इसीके पर्यायवाची शब्द शिव की उपाधियाँ बन गये। यही कथा द्रोण और अनुशासन पर्वों में भी कही गई है[1]।

सागर-मन्थन और गंगावतरण की कथाएँ भी महाभारत में मिलती हैं[2] और इनका रूप वही है जो रामायण में है।

शैव धर्म के इतिहास की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कथा जो महाभारत में मिलती है, वह है—दक्ष-यज्ञ की कथा। ब्राह्मण-ग्रन्थों का अवलोकन करते समय हमने देखा था कि ब्राह्मण कर्मकाण्ड के अनुयायियों में रुद्र की उपासना के प्रति एक विरोध-सा उत्पन्न हो गया था; क्योंकि वह इस उपासना में बाह्य अंशों के समावेश के पक्ष में नहीं थे। बाद में जब शैव धर्म का विकास हुआ, तब भी दीर्घ काल तक उनके प्रति यह विरोध-भावना बनी रही, ऐसा प्रतीत होता है। सम्भवतः काफी संघर्ष के बाद ही, शैव धर्म, शिव के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण, और परिस्थितियों की सहायता से, प्राचीन कर्मकाण्ड के समर्थकों की इस विरोध-भावना पर विजय पाने में और वेदोत्तर-कालीन धर्म में शिव को एक प्रमुख स्थान दिलाने में सफल हुआ था। देव-कथाओं में इस विरोध-भावना का संकेत इस प्रकार किया गया है कि रुद्र को देवताओं की संगति से अलग रखा गया है। इसके उदाहरण भी हम पहले अध्यायों में देख चुके हैं। उनमें से एक उदाहरण यह था कि जब देवताओं ने यज्ञ-भाग आपस में बाँटा, तब रुद्र के लिए कोई भाग नहीं छोड़ा। अपर-कालीन दक्ष-यज्ञ की कथा का बीज हम इस वैदिक कथा में पाते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, इस कथा का

१. महाभारत, द्रोण० : २०२; अनु० १६०।

२. ,, आदि० : १३, २२, और आगे : वन० ८५, ८६। अनु० ११३, १५ और आगे।

विकास होता गया। यहाँ तक कि इसने वह रूप धारण किया, जिसे हम प्राचीन धर्मावलम्बियों पर शैव धर्म की अन्तिम विजय का देवकथारूप कह सकते हैं। इस विजय के बाद शैव धर्म की स्थिति दृढ हो गई, और शिव सर्वमान्य हो गये। यह सब रामायण-महाभारत काल से बहुत पहले ही हो गया होगा; क्योंकि इन ग्रन्थों में शैव-मत ब्राह्मण धर्म के एक मुख्य अंग के रूप में दिखाई देता है, और दक्षयज्ञ की कथा का अपने पूर्ण विकसित रूप में उल्लेख किया गया है। महाभारत में इसके दो रूप हैं—एक प्राचीन और दूसरा अपरकालीन। प्राचीन रूप के अनुसार[1] दक्ष ने यज्ञ का अनुष्ठान किया, जिसमें शिव को छोड़ कर शेष सब देवताओं को यज्ञ-भाग दिया गया। शिव को इस प्रकार जान-बूझकर यज्ञ भाग से वंचित रखा गया था। यह रामायण के उस स्थल से स्पष्ट हो जाता है, जहाँ कहा गया है कि शिव के अपना भाग माँगने पर भी देवताओं ने उन्हें यज्ञ-भाग नहीं दिया। महाभारत में देवताओं द्वारा शिव की इस उपेक्षा का इस प्रकार समाधान किया गया है कि देवताओं ने भगवान् शिव को पूरी तरह से पहचाना नहीं था, और इसी कारण उन्हें यज्ञ-भाग नहीं मिला। परन्तु इस अपमान से कुपित हो शिव ने अपना धनुष उठाया और उस स्थान पर आ गये, जहाँ यज्ञ हो रहा था। जब शिव ने इस प्रकार क्रुद्ध होकर प्रयाण किया, तब समस्त विश्व में प्रलय-सा मच गया। जब वह यज्ञ-स्थल के समीप पहुँचे तब यज्ञ हिरन का रूप धारण कर भाग निकला, और अग्नि देवता भी उसके साथ ही चले गये। अन्य सब देवता, जो उस समय वहाँ एकत्र थे, भय के कारण निश्चेष्ट हो गये। अपने क्रोध में शिव ने सविता की भुजाएँ तोड़ दीं, भग की आँखें निकाल लीं, और अपने धनुष से पूषा के दाँत तोड़ दिये। इसपर देवताओं ने भी भाग निकलने का प्रयत्न किया; परन्तु शिव ने उन्हें वहीं रोक लिया। इस प्रकार जब देवताओं का अभिमान पूरी तरह चूर हो गया, तब उन्होंने शिव के पराक्रम को पहचाना और उनको तुष्ट किया तथा यज्ञ का उचित भाग उनको दिया। इस प्रकार महान संघर्ष में विजय पाकर शैव-धर्म ने सर्वमान्यता प्राप्त की। कथा का दूसरा रूप इस तथ्य पर और भी अधिक प्रकाश डालता है[2]। इसमें ऋषि दधीचि नये शैवधर्म के समर्थक हैं। दक्ष-यज्ञ में जब शिव को नहीं बुलाया गया तब वह क्रुद्ध होकर इसका कारण पूछते हैं। इसका उत्तर दक्ष देते हैं कि वह एकादश रुद्रों को छोड़ कर, जो यज्ञ में उपस्थित थे, अन्य किसी रुद्र अथवा शिव को नहीं जानते। इससे साफ पता चलता है कि शिव को ब्राह्मण कर्मकाण्ड का देवता नहीं माना जाता था और जो इस कर्मकाण्ड के दृढ अनुयायी थे, वे शिव को मान्यता नहीं देते थे। अन्य छोटी-छोटी बातों में भी यह कथा पहली कथा से कुछ भिन्न है। उदाहरणार्थ इस कथा में उमा शिव से अनुरोध करती हैं कि वे देवताओं से अपना यज्ञ-भाग माँगें, और वे देवताओं को इस अपमान का दण्ड दें। शिव स्वयं नहीं जाते; परन्तु अपने मुख से एक विकराल जीव को उत्पन्न करते हैं, जो 'वीरभद्र' कहलाता है, और इस

---

१. महाभारत, सौप्तिक : १८।

२. महाभारत (कलकत्ता संस्करण) अनु० : १५०।

वीरभद्र को शिव दक्ष-यज्ञ भंग करने का काम सौंपते हैं। उमा स्वयं महाकाली का रूप धरती हैं और वीरभद्र के साथ जाती हैं।

शैव-धर्म के प्रति प्रारम्भ में जो विरोध-भावना थी, उसका संकेत महाभारत में केवल दक्षयज्ञ की कथा से ही नहीं मिलता। ग्रन्थ-भर में इधर-उधर फैले हुए अन्य कई उल्लेख ऐसे हैं, जो दक्ष-यज्ञ की इस कथा को देखते हुए अर्थ-पूर्ण हो जाते हैं। उदाहरणार्थ उपमन्यु की कथा में शिव पहले इन्द्र का रूप धर कर प्रकट होते हैं और उपमन्यु को उसकी शिवोपासना से विरक्त करना चाहते हैं[1]। यह संदर्भ काफी बाद का और स्पष्ट ही किसी शिव-भक्त का रचा हुआ है; क्योंकि इसमें शिव की उपासना के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं, उनके महत्त्व को जितना हो सके, कम करने का प्रयास किया गया है। परन्तु यह सहज में ही देखा जा सकता है कि शिवोपासना की यह आलोचना एक समय शिव-भक्तों के लिए एक वास्तविक और प्रबल चुनौती थी। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिवोपासना के विरुद्ध जो तर्क दिये गये हैं, वे सब उन्हीं आपत्तिजनक अंशों को लेकर किये गये हैं, जिनका शैवधर्म के अन्दर समावेश हो गया था। इससे उस कथन की पुष्टि होती है कि शैवधर्म के प्रति विरोध-भावना का आधार ही उसके ये आपत्तिजनक लक्षण थे, जिन्हें हम पहले के एक अध्याय में कह चुके हैं। अनुशासन पर्व में ही एक अन्य स्थल पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है[2]। पार्वती की समझ में यह नहीं आता कि भगवान शिव जैसे महान् देवता श्मशान भूमि में क्यों घूमते हैं, और उन्होंने कुछ उलहने के स्वर में शिव से इसका कारण भी पूछा। इस संदर्भ में शिव के इस रूप का समाधान करने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास यहाँ तक पहुँचता है कि श्मशान भूमि को ही एक पुण्य स्थान मान लिया गया है। इसी पर्व में एक दूसरे स्थल पर त्रिपुरदाह की सारी कथा कही गई है, और यहां फिर यह कहा गया है कि जब त्रिपुरदाह के उपरान्त शिव देवताओं के समक्ष पार्वती की गोद में एक शिशु के रूप में आये, तब देवताओं ने उन्हें पहचाना नहीं[3]। स्पष्ट कहा गया है कि इन्द्र शिव से ईर्ष्या करते थे और वे इस शिशु पर उस समय अपना वज्र फेंकने को तैयार हो गये; परन्तु उसी क्षण उनकी भुजा पर 'सन्निपात' गिरा और उनकी पूर्ण पराजय हुई। इस कथा में इन्द्र के इस प्रकार आचरण करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता। परन्तु दक्ष-यज्ञ की कथा के प्रसंग में हमने जो कुछ ऊपर देखा है, उसका ध्यान रखते हुए, इस घटना में हमें प्राचीन और नवीन धर्मों के बीच जो संघर्ष हुआ था, उसकी एक झलक मिलती है। रामायण-महाभारत के समय तक यह नया धर्म पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था, और पुराने धर्म की जड़ें उखड़ चुकी थीं। शिव और उनकी उपासना के प्रति जो प्राचीन विरोध भावना थी, वह तबतक मिट चुकी थी; परन्तु उसकी स्मृति देवकथाओं में अभी तक शेष थी।

---

१. महाभारत, अनु० : २२, ९२ और आगे।

२. ,, अनु० : १९४, १० और आगे।

३. ,, अनु० : १६०, ३२-३३।

रामायण-महाभारत काल में शैव-धर्म के लोक-प्रचलित रूप की एक और बात अभी शेष है। वह है—उनकी पत्नी की उपासना का विकास। महाभारत में इसपर कुछ प्रकाश पड़ता है। सिन्धुघाटी के बाद सूत्रग्रन्थों में हमें पहली बार इस देवी की उपासना का उल्लेख मिला था। उसके स्वरूप और उसकी उपासना विधि के विषय में भी हमें वहाँ कुछ-कुछ पता चला था। रामायण में इस देवी का स्वतन्त्र उपासना का कोई उल्लेख नहीं है; परन्तु महाभारत में कई बार इसका उल्लेख हुआ है। देवी की स्तुति में दो पूरे स्तोत्र कहे गये हैं, जिनसे उसके स्वरूप और उसकी उपासना का हमें अच्छा ज्ञान हो जाता है[1]। विष्णु और शिव के समान ही इस देवी की भी जब आराधना होती थी, तब इसको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता था, और एक स्थल पर उसे विश्व की परम सम्राज्ञी कहा गया है। साधारणतया उसको शिव के क्रूर रूप में उनकी सहधर्मिणी माना जाता था। वह कृष्ण-वर्णा अथवा कृष्ण तथा बभ्रु रंग की है, यद्यपि एक बार उसका वर्ण 'श्वेत' भी कहा गया है। सर्प उसके वस्त्र हैं, वह बहुमुखी और बहुभुजी है और विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है। युद्ध से पहले विजय-प्राप्ति के लिए उसका आह्वान किया जाता है और उसको 'जया' और 'विजया' कहा गया है। इस रूप में वह बैबीलोन की देवी 'इश्तर' और असीरिया की देवी से भी बहुत मिलती-जुलती है; क्योंकि उसको भी एक रूप में युद्ध की देवी माना जाता था[2]। इस देवी की उपासना को शिव की उपासना के ढंग पर ढालने का प्रयत्न किया गया था, जिसके फलस्वरूप देवी को भी अपने भक्तों की रक्षिका और उनके शत्रुओं की संहार करनेवाली माना जाता था। इस सम्बन्ध में उसका सबसे प्रसिद्ध कृत्य 'महिषासुर' का वध है। राक्षस 'कैटभ' का वध भी इसी देवी ने किया था। लोक-विश्वास के अनुसार इसी देवी ने उस कन्या के रूप में अवतार लिया था, जिसे वसुदेव अपनी और देवकी की वास्तविक सन्तान कृष्ण के बदले गोकुल से ले आये थे।

इन सबसे यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि रामायण-महाभारत काल तक देवी की उपासना भी वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म का एक अंग बन गई थी। शिव के साहचर्य के कारण ही इस काल तक इस देवी को भी मान्यता मिल गई थी और महाभारत में हम देखते हैं कि युधिष्ठिर और अर्जुन—दोनों देवी की आराधना करते हैं तथा अर्जुन को तो स्वयं कृष्ण ने देवी की आराधना करने के लिए कहा था। इसके अतिरिक्त इस समय तक देवी के उपासकों ने अपनी उपासना के लिए प्राचीन श्रुतियों में ही प्रमाण ढूँढने के प्रयत्न करने शुरू कर दिये थे, और इन प्रारम्भिक प्रयत्नों के कुछ संकेत हमें महाभारत में ही मिलते हैं। उदाहरणार्थ देवी की स्तुति में जो स्तोत्र कहे गये हैं, उनमें से एक में इस देवी का सरस्वती से, वेद माता सावित्री से, स्वयं श्रुति से और वेदान्त से तादात्म्य किया गया है। इसका सम्भवतः अभिप्राय यह था कि इन सबमें इसी देवी का माहात्म्य गान किया गया है। एक अन्य स्थल पर[3], शिव की सहचरी के रूप में, उसको स्पष्ट रूप से शिव की शक्ति कहा गया

---

१. महाभारत : (कलकत्ता संस्करण)—विराट० ६; भीष्म० २३।
२. जैस्ट्रो : सिविलाइजेशन आफ बेबीलोनिया एण्ड एसीरिया, पृ० २३४।
३. महाभारत : अनु० २२, १४६।

है। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक उसको शिव की वह शक्ति अथवा माया माना जाने लगा था, जिसका उपनिषदों में उल्लेख किया गया है। यहीं से शाक्तमत का प्रारम्भ होता है।

जिन दो स्तोत्रों की ऊपर चर्चा की गई है, उनमें देवी के कुछ और गुणों तथा लक्षणों का भी वर्णन किया गया है, जिनपर ध्यान देना आवश्यक है। यद्यपि एक ओर देवी को शिव की पत्नी और स्कन्द की जननी माना गया है; परन्तु दूसरी ओर उसको कुमारी कहा गया है जिसने सतत कौमार्य का व्रत ले रखा था। उसका आवास विन्ध्य पर्वत है और मद्य, मांस तथा पशु-बलि—विशेष कर भैंसे का रक्त—उसे अतिप्रिय हैं। उसकी आकृति अति कुरूप है और जिन दानवों का वह वध करती है, उन्हें अपने वृक मुख से खा जाती है। ये लक्षण जहाँ तक हमें ज्ञात है, न तो वैदिक अम्बिका में हैं, न सिन्धु-घाटी की स्त्री देवता में पाये जाते हैं। परन्तु आजतक भी विन्ध्याचल के आस-पास की आदिवासी जातियाँ ऐसी स्थानीय स्त्री देवताओं की उपासना करती हैं, जिनका स्वरूप और जिनके गुण सर्वथा वही हैं—जैसे इस देवी के[१]। अतः यहाँ हम उस प्रक्रिया का प्रारम्भ देखते हैं, जो रुद्र की सहचरी की उपासना के विकास के साथ-साथ चलती रही और जिसके द्वारा अन्त में इस देवी ने देश-भर की समस्त स्थानीय स्त्री देवताओं को आत्मसात् कर लिया, और वे सब इस देवी की ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मानी जाने लगीं।

इन दो स्तोत्रों के अतिरिक्त महाभारत में कुछ अन्य स्थलों पर भी इस देवी का उल्लेख किया गया है। सौतिक पर्व में प्रलय निशा की प्रतीक 'कालरात्रि' के रूप में उसका वर्णन किया गया है। वह कृष्णवर्णा है, उसका मुख रक्त वर्ण है और आँखें लाल हैं, वह रक्तपुष्पों की माला पहनी है और उसके शरीर पर रक्त वर्ण का लेप है—केवल एक रक्तवस्त्र उसका आवरण है। संक्षेप में उसकी वेश-भूषा उसके स्वरूप के अनुकूल ही है। उसकी आकृति प्रौढा नारी की-सी है और वह एक हाथ में पाश लिये हुई है।

शान्ति पर्व में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि स्वयं उमा ने महाकाली का रूप धारण किया था, और दक्ष-यज्ञ का विध्वंस करने वह 'वीर-भद्र' के साथ गई थीं[२]। यही बात अनुशासन पर्व में भी कही गई है जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक इस देवी को पूर्ण रूप से शिव की सहचरी माना जाने लगा था, यद्यपि शिव के समान ही, उसकी भी कुछ लोग उसके आदि क्रूर रूप में उपासना करते थे। परन्तु जहाँ शिव के क्रूर रूप की उपासना उनके कुछ इने-गिने ही भक्त करते थे, और इस पर भी इन लोगों का कुछ समय बाद एक गुप्त सम्प्रदाय-सा बन गया तथा इनके आचार-विचार भी समाज-विरोधी हो गये, वहाँ दुर्गा अथवा काली के रूप में देवी की उपासना बराबर बढ़ती और फैलती ही गई। इसने शीघ्र ही एक स्वतंत्र मत का रूप धारण कर लिया, जो अपने अनुयायियों की संख्या

---

१. महाभारत : (कलकत्ता संस्करण) सौतिक० ८।
२. ,, : (,,) शान्ति० २८४।

की दृष्टि से शैव और वैष्णव मत से कम नहीं था। उसका क्रूर रूप बराबर बना रहा, और पशुओं एवं रक्त की बलि आज तक उसकी उपासना का एक आवश्यक अंग बना हुआ है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले एक बात और देखनी शेष रह जाती है। वह यह है कि न तो 'रामायण' में और न 'महाभारत' में ही गणेश का कहीं विस्तृत वर्णन किया गया है। उनका इतना उल्लेख तो अवश्य हुआ है कि महाभारत की रचना के समय जो कुछ महर्षि व्यास बोलते जाते थे, उसे गणेश जी लिखते जाते थे। परन्तु इसके अतिरिक्त उनके विषय में और कुछ नहीं कहा गया है। वह इस समय तक एक स्वतंत्र देवता बन गये थे, यह तो सूत्र ग्रन्थों से ही स्पष्ट हो जाता है; परन्तु रामायण-महाभारत के समय तक वह एक प्रमुख देवता नहीं थे। फिर भी यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि महाभारत में एक-दो बार शिव को गणपति कहा गया है, और उनके अनुचर 'गण' कहलाते हैं। एक बार उनको 'गणेश्वर' की भी उपाधि दी गई है, जो गणेश का ही पर्यायवाची शब्द है और जिसका प्रयोग सूत्रग्रन्थों में 'विनायक' के लिए किया गया है। यह शिव और गणेश के मूल तादात्म्य का एक और प्रमाण है।

इस प्रकार रामायण-महाभारत में हम देखते हैं कि शैव मत सार रूप से वे ही लक्षण ग्रहण करता जा रहा था, जो हमें पौराणिक युग में दिखाई देते हैं। उपनिषद्-काल के धार्मिक परिवर्तन और विकास के फलस्वरूप, वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म में, शिव एक प्रमुख देवता बन गये और अपने उपासकों द्वारा सर्वश्रेष्ठ देवता माने जाने लगे। उनकी उपासना के दो रूप थे - एक दार्शनिक और दूसरा लोकप्रचलित। उनकी उपासना के प्रति जो विरोध-भावना प्राचीन काल में थी, वह अबतक सर्वथा लुप्त हो चुकी थी, यद्यपि उसकी स्मृति देवकथाओं में अभी तक विद्यमान थी। शिवोपासना के जिन आपत्तिजनक रूपों को लेकर इस विरोधभावना का जन्म हुआ था, उनका भी अभी तक अस्तित्व था ही और कुछ लोग उन्हीं रूपों में शिव की उपासना भी करते थे। भक्तिवाद का भी अब पूर्णरूप से प्रचार हो गया था और यह विष्णु तथा शिव—इन्हीं दो देवताओं में केन्द्रित था। उनकी उपासना का साधारण ढंग प्रार्थना और उनकी प्रशंसा में स्तुति-गान करना था। यह प्रार्थना अथवा स्तुतिगान आम तौर पर मन्दिरों में किया जाता था, जहाँ शिव की मूर्त्तियाँ होती थीं। उनकी लिंग मूर्त्तियाँ भी अब उनकी मानवाकार मूर्त्तियों के समान ही प्रचुर संख्या में बनती थीं; परन्तु उनका जननेन्द्रिय-उपासना से अब कोई सम्बन्ध नहीं था, यद्यपि यह ज्ञान लोगों को अवश्य था कि इन मूर्त्तियों का आकार जननेन्द्रिय-सम्बन्धी है। शिव का अब अपनी सहचरी से भी स्पष्ट सम्बन्ध था, जो उमा अथवा पार्वती कहलाती थी। शिवोपासना का सबसे अधिक लोक-प्रचलित रूप वह था, जिसमें दोनों की साथ उपासना होती थी। इस रूप में दोनों का आदि स्वरूप बहुत बदल गया था और भक्तिवाद के प्रभाव से वह अति सौम्य हो गया था। उनको अब दयाशील, कल्याणकारी और कृपालु देवता माना जाता था, जो सदा मानवजाति के हित में लगे रहते थे, यद्यपि मर्यादा

उल्लंघन करनेवाले को वह दण्ड भी देते थे। योगाभ्यास और तपस्या का मान अब बहुत बढ़ गया था, और इन्हीं के द्वारा शिव में सच्ची और अचल भक्ति रख कर उन्हें प्रसन्न किया जा सकता था। अनेक भक्तों ने इस प्रकार उनसे वरदान पाये थे। इन भक्तों में 'उपमन्यु' सबसे प्रमुख है और उसको एक आदर्श भक्त माना गया है। शिव की सहचरी की देवी के रूप में स्वतंत्र उपासना का भी विकास हो रहा था और उसको कुछ मान्यता भी दी जाने लगी थी, यद्यपि इस रूप में देवी का प्राचीन क्रूर स्वरूप ही बना रहा तथा कुछ स्थानीय स्त्री देवताओं को आत्मसात् कर लेने के कारण उसका विकास भी हो रहा था। देवी के कुछ भक्त प्राचीन वैदिक श्रुतियों से उसका उपासना को प्रामाणिकता देने का और उनका एक दार्शनिक आधार बनाने की चेष्टा भी कर रहे थे। इन प्रयासों से शाक्त धर्म का जन्म हुआ।

शैव धर्म के विकास का हमारा निरीक्षण अब ईसा संवत् के प्रारम्भ से कुछ पहले तक पहुँच जाता है। अब इसको हम इस काल की कुछ अन्य उपलब्ध सामग्री का अवलोकन करके समाप्त करेंगे। जो कुछ सामग्री उपलब्ध है, उससे रामायण और महाभारत के प्रमाणों की पुष्टि होती है। इस सामग्री में से सबसे पहले लघु उपनिषद् ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना लगभग रामायण-महाभारत के अपरकालीन भागों के समय में ही हुई थी। इन उपनिषदों में बहुत-सी सामग्री है, जिससे रामायण-महाभारत के आधार पर जो निष्कर्ष हमने निकाले हैं, उनकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ 'कैवल्य उपनिषद्'[1] में शिव की दार्शनिक 'पुरुष' के रूप में कल्पना की गई है, जिसका न आदि है, न मध्य, न अन्त; जो एक है, चित् है तथा आनन्द है; जो साक्षी है और जिनके स्वरूप को पहचान कर ऋषियों ने सद्-ज्ञान प्राप्त किया है। यहीं 'सदाशिव' उपाधि का भी पहली बार प्रयोग किया गया है और बाद में इसी उपाधि से शिव के दार्शनिक स्वरूप का भी निर्देश किया जाने लगा। अपने लोक-प्रचलित स्वरूप में शिव को परमेश्वर, त्रिनेत्र, नीलकंठ तथा उमापति कहा गया है। इन सब लक्षणों को हम रामायण-महाभारत में देख चुके हैं[2]। 'शतरुद्रिय सूक्त' में शिव का स्तवन किया गया है, इसी कारण इस सूक्त का जाप करने से मनुष्य की ऐसी परिशुद्धि हो जाती है जैसे अग्नि से धातु की, और वह कैवल्य की अवस्था को पहुँच जाता है[3]। 'जाबाल उपनिषद्' में कहा गया है कि शिव ने 'तारकासुर' को ब्रह्मज्ञान दिया था[4]। 'शतरुद्रिय सूक्त' के माहात्म्य का यहाँ भी वर्णन किया गया है और उसको अमरत्व-प्राप्ति का साधन माना है। 'नारायण उपनिषद्' में, जो 'तैत्तिरीय आरण्यक' का अन्तिम अध्याय है, विभिन्न देवताओं का 'तत्पुरुष' से तादात्म्य किया गया है और यहाँ हमें वह श्लोक मिलता है, जिसकी हमने पहले

---

१. कैवल्य उपनिषद् : ७, १८।

२. ,, : ७।

३. ,, : ४।

४. जाबाल उपनिषद् : ३।

एक अध्याय में भी चर्चा की है और जिसमें 'वक्रतुण्ड' और 'दन्ति' का उल्लेख है[1]। इसी प्रसंग में स्कन्द और गरुड़ का भी उल्लेख किया गया है, जिससे इस उपनिषद् का अपरकालीन होना सिद्ध होता है। इसी उपनिषद् में एक दूसरे स्थल पर दुर्गा के नाम से देवी का आह्वान रामायण-महाभारत के ढंग पर ही किया गया है[2]। अन्त में 'अथर्वशिरस उपनिषद्' है, जिसमें केवल शिव की महिमा का गान है। शिव की विश्वदेवतात्मक ब्रह्म के रूप में कल्पना की गई है और विभिन्न देवताओं से उनका तादात्म्य किया गया है, जिनमें विनायक और उमा भी हैं[3]। इस उपनिषद् में शिव का जो स्वरूप दिखाई देता है, उससे स्पष्ट पता चलता है कि शिव का दार्शनिक स्वरूप अब 'सांख्य' के 'पुरुष' की अपेक्षा 'वेदान्त' के 'ब्रह्म' के अधिक निकट आता जा रहा था।

इन लघु उपनिषदों के बाद हमें 'पतंजलि' का महाभाष्य मिलता है, जो ईसा से दो शताब्दी पूर्व का है। पतंजलि शुंग पुष्यमित्र के समकालीन थे। महाभाष्य में शिव के अनेक नामों का उल्लेख तो है ही[4], इसके साथ-साथ शिव और स्कन्द की मूर्तियों का भी वर्णन है, जो स्पष्ट ही पूजा के लिए बनाई जाती थीं[5]। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि मौर्य सम्राट् इस मूर्ति-निर्माण और मूर्तियों की उपासना को सरकारी आय का साधन बनाते थे[6]। इस प्रकार इस ग्रन्थ से 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' की पुष्टि होती है और यह भी सिद्ध होता है कि पतंजलि के समय तक मूर्तिपूजा एक बड़ी प्राचीन प्रथा हो गई थी। इसके अतिरिक्त एक स्थल पर पतंजलि ने 'शिव-भागवतों'[7] का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवतः शिवोपासकों का एक सम्प्रदाय थे। एक अगले अध्याय में हम इनकी फिर चर्चा करेंगे। पतंजलि ने न तो देवी का या न गणेश का ही कोई उल्लेख किया है।

इसी समय के कुछ सिक्के भी हमें मिलते हैं, जिनसे शिव और उनकी उपासना के विषय में हमें कुछ प्रासंगिक बातें पता चलती हैं। इनमें से सबसे प्राचीन कुछ चाँदी और ताम्बे के ठप्पेदार सिक्के हैं, जो लगभग तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व के हैं। उनपर अनेक चिह्न अंकित हैं, जिनमें वृषभ कई बार पाया जाता है[8]। यह कहना कठिन है कि इस वृषभ का शिव से कोई सम्बन्ध था या नहीं। यह वृषभ चिह्न, दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हिन्द-यूनानी राजाओं के कुछ सिक्कों पर भी मिलता है[9]। इन राजाओं ने भारतीय संस्कृति को

---

१. नारायण उपनिषद् : ५, ८।
२. ,, ,, : १६।
३. अथर्वशिरस् उपनिषद्।
४. महाभाष्य ,, : सूत्र १,४६; ३, ९९; १,६२; ४, ७७ के नीचे।
५. ,, ,, : सूत्र ३, ९९ के नीचे।
६. ,, ,, : सूत्र ३, ९९ के नीचे।
७. ,, ,, : सूत्र ३, ७६ के नीचे।
८. Catalogue of Indian Coins. Br. Museum : Introd. p. 18, Pl. I, Nos. 20-23.
९. Coins of Alexander's successors in the East. Cuningham, Pl. VIII, Nos. 7-12 PC. IX, No. 4.

ग्रहण कर लिया था—जैसा कि इनके सिक्कों के लेखों से स्पष्ट है, जो संस्कृत भाषा में थे। हो सकता है कि कुछ ने शैव मत भी ग्रहण कर लिया हो। तीसरी से दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक के कुछ चाँदी के सिक्कों पर एक देवता का चित्र अंकित है। अपरकालीन उज्जयिनी के सिक्कों पर फिर वैसा ही चित्र दिखाई देता है, और वहाँ निश्चित रूप से वह कार्तिकेय का ही चित्र है[१]। अतः यहाँ भी यह संभव है कि यह कार्तिकेय का ही चित्र हो और उस समय तक उसकी उपासना भी की जाने लगी हो। इससे महाभाष्य के उस उल्लेख की पुष्टि होती है, जहाँ स्कन्द की मूर्तियों की चर्चा की गई है। उसी समय का एक सिक्का और है जिसके जारी करनेवाले राजा का पता नहीं; परन्तु जिसपर पहली बार 'शिवलिंग' का एक चित्र अंकित किया गया है[२]। वह एक पीठिका पर रखा हुआ है, लगभग उसी ढंग से जैसे अपर काल में लिंग-मूर्तियाँ रखी जाती थीं। अतः वह उपासना के लिए ही बनाया गया होगा। इससे गृह्यसूत्रों और महाभारत के प्रमाणों की बड़े विशद् ढंग से पुष्टि हो जाती है। अन्त में राजा गोंडोफारेज के सिक्कों पर हमें प्रथम बार स्वयं शिव का चित्र अंकित मिलता है[३]। अपरकालीन सिक्कों में तो यह चित्र अति साधारण हो गया था। इस चित्र में शिव द्विबाहु, खड़े हुए और अपने दक्षिण हाथ में त्रिशूल लिये हुए दिखाये गये हैं। यही चित्र बाद में सब सिक्कों के चित्रों के लिए एक नमूना बन गया, ऐसा मालूम होता है। इन सब सिक्कों में वह सदा इसी प्रकार खड़े हुए, द्विबाहु अथवा चतुर्बाहु और अपने हाथों में विभिन्न वस्तुएँ लिये दिखाये गये हैं।

इन सब अभिलेखों से पता चलता है कि इस काल में उत्तर भारत में शैव धर्म के उसी स्वरूप का प्रचार था जो रामायण-महाभारत में हमने देखा है और कभी-कभी इसको राजाश्रय भी मिल जाता था। इस शैव धर्म का प्रचार केवल उत्तर भारत में ही नहीं था, दक्षिण में 'गुडडीमल्लम्' नामक स्थान पर एक लिंग-मूर्ति मिली है, जिसका समय दूसरी शताब्दी ईसापूर्व निर्धारित किया गया है[४]। कई दृष्टियों से यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण खोज है। यह केवल इसी बात का प्रमाण नहीं है कि इस समय तक शैव धर्म का और उसके अन्तर्गत लिंगोपासना का प्रचार दक्षिण भारत तक पहुँच गया था; परन्तु इस लिंग-मूर्ति का आकार जननेन्द्रिय से इतना मिलता-जुलता है कि इस धारणा में किसी संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं रह जाती कि प्रारम्भ में ये लिंग-मूर्तियाँ जननेन्द्रिय का प्रतीक ही थीं। इसी मूर्ति पर शिव की मानवाकार मूर्ति भी खुदी हुई है, अतः यह लिंग-मूर्तियों की उस श्रेणी का प्रथम उदाहरण है जिसे 'मुखलिंग' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त 'भीटा' नामक स्थान पर पहली शताब्दी ईसा पूर्व की एक और लिंग-मूर्ति मिली है[५]। यह उतनी यथार्थपूर्ण

१. Catalogue of Indian Coins Br. Museum (Ancient India) Class I, Group 3. variety 'f' and 'g' Pl. XII.

२. ,, ,, ,, Introd. p. 75. Pc. II, 2 etc.

३. ,, ,, ,, ,, ,,

४. गणपति राव : हिन्दू आइकानोग्राफी, भाग २, पृ० ६३-६६।

५. ,, ,, : ,, ,, ,, ,, ।

तो नहीं है; परन्तु इसपर पंचमुख शिव की मानवाकार मूर्ति खुदी हुई है और शिव का पाँचवाँ मुख मूर्ति के शिरोभाग पर है। एक तीसरी लिंग-मूर्ति मध्य ट्रावनकोर में 'चेमी हलई' नामक स्थान पर मिली है। इसका आकार लगभग रूढ़िगत है और इसको अपरकालीन लिंग-मूर्तियों का आदि रूप माना जा सकता है।

इस प्रकार ईसा-संवत् के प्रारम्भ तक शैवधर्म का प्रचार समस्त भारत में हो गया था, और उसका स्वरूप सारतः वही था, जो रामायण-महाभारत काल में था। आगामी शताब्दियों में शैव धर्म के इन्हीं रूपों और लक्षणों का अधिक विकास होता गया और अन्त में शैव धर्म का वह स्वरूप बना जो हम पुराणों में पाते हैं तथा जिसको शैव धर्म का प्रामाणिक स्वरूप कह सकते हैं। अतः अगले अध्याय में हम इसी विकास का और फिर पौराणिक शैव धर्म का अध्ययन करेंगे।

प्रथम अध्याय

ईसा-संवत् की प्रारम्भिक कुछ शताब्दियाँ भारतीय धर्म के इतिहास का निर्माण-युग हैं। इस युग में उपनिषद्-काल के बाद जिन विभिन्न मतों का प्रादुर्भाव हुआ था, उनका विकास हुआ और उन्होंने अपना निश्चित रूप धारण किया। दुर्भाग्य से इस युग के निश्चित धर्मसम्बन्धी अभिलेख, विशेषतः ऐसे अभिलेख जिनका शैवधर्म से सीधा सम्बन्ध हो, अब नहीं मिलते। इस कारण हमें इस युग के धार्मिक इतिहास के लिए उन प्रासंगिक उप-सूचनाओं का सहारा लेना पड़ता है, जो इस समय के अन्य लौकिक अभिलेखों से मिलती हैं। ये अभिलेख साहित्यिक भी हैं और पुरातत्त्व-सम्बन्धी भी। यद्यपि इन अभिलेखों की संख्या अधिक नहीं है, फिर भी इस युग में विभिन्न मतों के विकास का एक साधारण ज्ञान कराने के लिए वे पर्याप्त हैं। अतः पहले हम इन्हीं का अध्ययन करेंगे और यह देखेंगे कि ईसा की इन प्रारम्भिक शताब्दियों में शैवधर्म के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में इनसे कहाँ तक सहायता मिलती है।

साहित्यिक अभिलेखों में सबसे पहले 'अश्वघोष' की कृतियाँ हैं। 'अश्वघोष' एक बौद्धमतावलम्बी कवि और विद्वान् थे, जो ईसा के प्रथम शती में हुए और राजा कनिष्क के समकालीन थे। उन्होंने अपने 'बुद्धचरित' नामक काव्य में भगवान् शिव का कई बार उल्लेख किया है और इन उल्लेखों से हमें पता चलता है कि उस समय शिव का स्वरूप सारभाव से वैसा ही था, जैसा रामायण-महाभारत में। उदाहरणार्थ एक श्लोक में 'वृषध्वज' नाम से उनका उल्लेख किया गया है[1], और एक अन्य स्थल पर[2] उनको 'भव' कहा गया है, तथा स्कन्द को (जिसे यहाँ 'षण्मुख' कहा गया है) उनका पुत्र माना गया है। एक तीसरे श्लोक में देवी कहकर पार्वती का उल्लेख किया गया है और उनको स्कन्द की माता माना गया है[3]। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वयं स्कन्द को यहाँ 'अग्निसूनुः' कहा गया है। 'अश्वघोष' की दूसरी कृति 'सौन्दरानन्द' में शिव अथवा उनकी उपासना के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं किया गया है। एक श्लोक में 'आम्बिक' शब्द अवश्य आया है, जिससे स्कन्द अथवा गणेश अभिप्रेत हो सकते हैं[4]। परन्तु इस श्लोक का पाठ निश्चित नहीं है। अश्वघोष की जो अन्य कृतियाँ बताई जाती हैं, उनमें शिव अथवा शैव-धर्म के विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं है।

ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी का शायद 'शूद्रक' कवि रचित 'मृच्छकटिक' नामक रूपक भी है। इसके उपोद्घात को छोड़कर, जो बाद का है, इस ग्रन्थ में शिव

---

१. बुद्ध-चरित : १०, ३।
२. ,, : १, ९३।
३. ,, : १, ६६।
४. सौन्दरानन्द : १०, ६।

और शैवधर्म-सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते हैं। एक स्थल पर शिव के विभिन्न नाम—शिव, ईशान, शंकर और शंभु दिये गये हैं [१]। एक अन्य स्थल पर शिव द्वारा दक्ष-यज्ञ-विध्वंस की ओर संकेत किया गया है [२]। महादेवी के रूप में पार्वती का भी एक बार उल्लेख हुआ है और इनके द्वारा शुंभ-निशुंभ के वध की कथा की ओर भी संकेत किया गया है [३]। यहाँ तक तो शिव और पार्वती का स्वरूप बिलकुल वैसा ही है, जैसा रामायण-महाभारत में। परन्तु कुछ अन्य स्थलों पर इस स्वरूप में हम कुछ विकास पाते हैं और इसको शैवधर्म के पौराणिक स्वरूप की ओर बढ़ते हुए देखते हैं। उदाहरणार्थ छठे अंक के एक श्लोक में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति के साररूपेण ऐक्य की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है [४]। इस ऐक्य की केवल एक धुँधली-सी झलक ही 'महाभारत' के सबसे अपरकालीन भागों में मिलती है; परन्तु पुराणों में इसको स्पष्ट रूप से माना गया है। इसके अतिरिक्त तीसरे अंक में स्कन्द को चोरों का संरक्षक देवता माना गया है [५]। यह कहना कठिन है कि स्कन्द ने यह रूप कब धारण किया? परन्तु, यहाँ यह याद करना शायद रुचिकर होगा कि वैदिक 'शतरुद्रिय' स्तोत्र में स्वयं रुद्र को चोरों का संरक्षक देवता माना गया है। एक अन्य स्थल पर शिव द्वारा क्रौंच-वध का उल्लेख किया गया है, जो एक नई कथा है। अन्त में एक स्थल पर मातृकाओं का भी उल्लेख हुआ है, जिनकी जनसाधारण द्वारा चतुष्पथों पर पूजा की जाती थी [६]। इन स्त्री देवताओं की उपासना बाद में स्कन्द की उपासना का एक अंग बन गई। इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने का हमें आगे चलकर अवसर मिलेगा।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त हमें तीन और ग्रन्थ मिलते हैं, जिनकी रचना भी सम्भवतः ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी में हुई थी। ये ग्रन्थ हैं—'मनुस्मृति', 'भारतीय नाट्य-शास्त्र' और वात्स्यायन का 'कामसूत्र'। मनुस्मृति में कई बार देवताओं की मूर्तियों का और उनकी उपासना का उल्लेख किया गया है [७], और कुछ ऐसे लोगों की चर्चा भी की गई है जो देवमूर्तियों को पूजार्थ लिये चलते थे। उनकी जीविका का यही साधन था [८]। अनेक देवताओं का नाम लेकर भी उल्लेख किया गया है, जिनमें विष्णु भी हैं। परन्तु न तो शिव का, न उनकी सहधर्मिणी का कहीं उल्लेख हुआ है। हाँ, रुद्रों (एकादश रुद्रों) का एक बार उल्लेख हुआ है [९]। परन्तु एक स्थल पर शिव पर चढ़ाये नैवेद्य (भोज्य-वस्तु) को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि इस समय शिव की

---

१. मृच्छकटिक : १, ४१।
२. ,, : १०, ४५।
३. ,, : ६, २७।
४. ,, : ६, २७।
५. ,, : ३, ५ के आगे का गद्य भाग।
६. ,, : २, २५ ,, ,, ,,
७. मनुस्मृति : अध्याय ६, ३६, १३०, १५३।
८. ,, : ,, ३, १५२, १८०।
९. ,, : ,, ३, २८४।

अर्चना इन वस्तुओं से की जाती थी। इनके ग्रहण करने के निषेध के पीछे सम्भवतः शिव के प्रति प्राचीन विरोध-भावना की स्मृति है।

'भारतीय नाट्य-शास्त्र' में शिव का पूर्ण रूप से सत्कार और सम्मान किया गया है। प्रारम्भ में ही ब्रह्मा के साथ ही उनका भी आह्वान किया गया है और उनको 'परमेश्वर' कहा गया है[१]। अन्य स्थलों पर उनको 'त्रिनेत्र', 'वृषांक', 'नीलकंठ' आदि उपाधियाँ दी गई हैं और उनके गणों की चर्चा भी की गई है[२]। इसी ग्रन्थ में शिव का 'नटराज' रूप प्रमुख है। वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और 'कैशिकी वृत्ति' सदा उनकी सेवा में रहती है[३]। उन्होंने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया[४]। इस समय तक सम्भवतः उनको महान् योगाचार्य भी माना जाने लगा था और ग्रन्थ में कहा गया है कि उन्होंने ही भरत-पुत्रों को 'सिद्धि' सिखाई[५]। अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का उल्लेख भी किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से 'भरत' ने 'त्रिपुरदाह' नाम का एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था[६]।

'काम सूत्र' में शिव का, केवल एक बार आदि के मंगल श्लोक में, उल्लेख किया गया है[७]। इसमें कहा गया है कि भगवान् शिव के अनुचर नन्दी ने ब्रह्मा द्वारा रचित एक बृहदाकार विश्वकोष के कामशास्त्र-सम्बन्धी भाग की व्याख्या की थी।

ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों के हमें अनेक सिक्के भी मिलते हैं, जिनसे इस काल के भारत के राजनीतिक इतिहास की खोज में हमें अमूल्य सहायता मिली है। हमारे मतलब के लिए भी उनका वैसा ही मूल्य है जैसा कि उन प्राचीन सिक्कों का था, जिनकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। इन सिक्कों से भी हमें तत्कालीन शैव-धर्म-सम्बन्धी अनेक प्रासंगिक उपसूचनाएँ मिलती हैं। ईसा का प्रथम शताब्दी के प्राचीन कुशान-राजाओं के सिक्के हैं। 'वेम कैडफासिस' के दो सोने के सिक्कों के पिछले भाग पर शिव का चित्र अंकित है[८]। दोनों में शिव को खड़े हुए दिखाया गया है और उनके दक्षिण हाथ में त्रिशूल। पहले सिक्के में शिव का वाहन वृषभ उनके पास ही खड़ा हुआ दिखाया गया है। दूसरे सिक्के में त्रिशूल के अतिरिक्त भगवान एक कमण्डल और व्याघ्रचर्म भी हाथ में लिये हुए हैं। दोनों में शिव द्विबाहु हैं। रामायण-महाभारत में शिव के जिस स्वरूप की

१. नाट्य-शास्त्र : १, ९।
२. " : १, ४५, २४, ५, १०।
३. " : १, ४५।
४. " : ४, १७ और आगे।
५. " : १, ६०।
६. " : ४, ५-१०।
७. कामसूत्र : मंगल श्लोक।
८. Lahore Museum Catalogue of Coins. (white head) Plate XVII, nos. 31, 33.
Calcutta " " " (Smith) P. 68, nos. 1-12.

कल्पना की गई थी, यह चित्र उसी का प्रतिरूप है। इसके अतिरिक्त इन सिक्कों पर जो लेख हैं, उनसे भी पता चलता है कि यह राजा शैवमतावलम्वी था; क्योंकि इनमें उसको 'महीश्वर' की उपाधि दी गई है[१]। इसी राजा के ताँबे के सिक्कों पर भी सोने के सिक्कों के सदृश ही शिव का चित्र अंकित है; किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके सिर के चारों ओर प्रकाशमण्डल विद्यमान है[२]। इन सिक्कों के बाद हमें 'कनिष्क' के सिक्के मिलते हैं। इसके एक सोने के और अनेक ताँबे के सिक्कों की पीठ पर भगवान् शिव का चतुर्भुज चित्र अंकित है। यहाँ भी शिर के चारों ओर प्रकाश-मण्डल है, और चार हाथों में, त्रिशूल, डमरू, कमण्डल और पाश हैं[३]। इस चित्र के साथ जो लेख है, वह यूनानी लिपि में है जिसे 'ohpo' पढ़ा जाता है और जिसका संस्कृत रूप 'ईश' होता है। कनिष्क के कुछ अन्य सिक्कों पर शिव के पास ही एक हिरन खड़ा हुआ दिखाया गया है[४]। इसका संकेत सम्भवतः शिव के 'पशुपति' रूप की ओर है और हमें सिन्धु घाटी की उन मुद्राओं की याद दिलाता है, जिनके अधोभाग में पुरुष देवता की पीठिका के नीचे दो हिरन दिखाये गये हैं। कनिष्क के ही कुछ और सिक्कों पर द्विभुज शिव का चित्र भी है, जिनमें भगवान् एक हाथ में त्रिशूल और दूसरे में कमण्डल उठाये हुए हैं[५]।

कनिष्क का उत्तराधिकारी हुविष्क था, जिसका समय ईसा की पहली शती के अन्त में और दूसरी के शुरू में पड़ता है। इसके सिक्कों पर भी हमें इसी प्रकार के द्विभुज और चतुर्भुज शिव के चित्र मिलते हैं[६]। यूनानी लिपि में उनपर भी वही लेख है। कुछ सिक्कों में हिरन फिर दिखाई देता है और शिव अपने हाथ उसके सींगों पर रखे हुए हैं[७]। एक सिक्के पर शिव शशांक-भूषित है[८]। इस चित्र को चन्द्रदेवता का चित्र माना जाता है; परन्तु इसपर जो लेख खुदा हुआ है, वह सम्भवतः वही है जो ऊपर के सिक्कों पर।

---

१. Lahore Museum Catelogue of Coins : (white head) Plate XVII, nos. 31, 33.
Calcutta ,, ,, : (Smith) P. 68, nos. 1-12

२. Lahore ,, ,, : (white head) Plate XVII, no. 36.

३. ,, ,, ,, : (,,) Plate XVII no. 65, Pl. XVIII, nos. 106-108.
Calcutta ,, ,, : (Smith) P. 74. nos. 64-77.

४. ,, ,, ,, : (,,) P. 70. nos. 9-10.

५. Lahore ,, ,, : (white head) Pl. XVIII, nos. 110-114.

६. ,, ,, ,, : (white head) Pl. XIX, nos. 150-52, 153-156.

७. Calcutta ,, ,, : (Smith) P 78, nos. 16-17.

८. ,, ,, ,, : (,,) P. 80, no. 31.

अतः सम्भावना इस बात की अधिक है कि यह चित्र भगवान् शिव का ही है और यह उनका 'चन्द्रमौलि' रूप है। 'हुविष्क' का एक दूसरा सिक्का एक समस्या है[१]। इसपर चित्र तो लगभग वैसा ही है जैसा अन्य सिक्कों पर; परन्तु यहाँ शिव धनुर्धारी हैं और उनका मुख दाईं ओर मुड़ा हुआ है। सम्भवतः यह शिव के 'पिनाकी' रूप का चित्रण है; परन्तु इस सिक्के पर एक अस्पष्ट लेख भी है। डॉ० स्मिथ ने इस लेख को अनुमान करके 'गणेश' पढ़ा था। यदि यह पाठ निश्चित रूप से प्रामाणिक सिद्ध हो जाय, तो यह चित्र शिव और गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य का एक असंदिग्ध प्रमाण हो जायगा। परन्तु जबतक लेख का पाठ निश्चित रूप से निर्धारित न किया जाय, इस विषय में कुछ और नहीं कहा जा सकता।

हुविष्क का एक और सिक्का भी महत्त्व का है; क्योंकि इसमें पहली बार शिव की बहुमुख आकृति का चित्रण किया गया है[२]। चित्र में शिव खड़े हुए हैं, उनका एक मुख सामने की ओर है और अन्य दो मुखों की पार्श्वाकृति दायें और बायें चित्रित है। इसको शिव के 'त्रिमूर्त्ति' रूप का चित्रण माना गया है। परन्तु यह चित्र शिव के चतुर्मुख रूप का चित्रण भी हो सकता है, जिसका उल्लेख महाभारत में अप्सरा तिलोत्तमा के प्रसंग में किया गया है। चौथा मुख चूँकि पीछे की ओर है, इसलिए वह अदृश्य है।

अपरकालीन कुशान राजाओं के सिक्कों में जो दूसरी और तीसरी शती के हैं, इनमें हम पहले हुविष्क के उत्तराधिकारी वासुदेव के सिक्कों को ले सकते हैं। इनपर द्विभुज शिव का चित्र अंकित है और उसके सब वैसे ही लक्षण हैं, जैसे पुराने सिक्कों पर[३]। एक सिक्के पर फिर शिव का बहुमुख चित्र दिखाई देता है[४], जो हुविष्क के सिक्के के चित्र के समान ही है। वासुदेव के अन्य सिक्कों पर सिंहासनारूढ़ एक स्त्री देवता के चित्र भी पाये जाते हैं, जो अपने हाथों में केशबन्ध और रस्सी लिए हुई है[५]। यह किस स्त्री देवता के चित्र हैं, इसका निर्णय अभी नहीं किया जा सकता।

वासुदेव के बाद 'कनेस्को' के सिक्के हैं, जो दूसरी शताब्दी के अन्त में राज करता था। हुविष्क के सिक्कों-जैसा उसके सिक्कों पर भी द्विबाहु शिव का चित्र अंकित है[६]। इसी राजा के कुछ अन्य सिक्कों पर यूनानी लिपि में 'ap△oxpq' यह लेख मिलता

---

१. Calcutta Museum Catalogue of Coins : (Smith) P. 80, no. 46.
२. „ „ „ : („) P. 78 no. 15.
३. „ „ „ : („) P. 84 f. nos. 1-34.
„ Lahore „ „ : (white head) Pl. XIX. nos. 209-226.
४. „ „ „ : („) Pl. XX, no. 11.
५. „ „ „ : („) Pl. XIX, nos. 227-230.
६. „ „ „ : („) Pl. XIX, nos. 231-235.

है[१]। इसका संस्कृत रूपान्तर 'अर्धांश' किया जा सकता है; परन्तु इस शब्द का अर्थ पूर्ण स्पष्ट नहीं होता।

इसके उपरान्त ईसा की तीसरी शती में कुशान राजा सासानी वसु के सिक्के मिलते हैं। उनके सिक्कों पर भी स्त्री देवता के चित्र अंकित हैं, और यूनानी लिपि का लेख कुछ अधिक पूर्ण 'apΔoxpq' है[२]। वसु के उत्तराधिकारी वासुदेव के सिक्कों पर फिर द्विबाहु शिव का चित्र अंकित है, और लेख भी वही परिचित 'ohpo' है[३]। अन्त में 'होरमोज्द' द्वितीय और बराहन के सिक्कों पर शिव का वृषभ सहित चित्र अंकित है।

इस प्रकार इन सिक्कों से पता चलता है कि ईसा की पहली तीन शताब्दियों में शैवधर्म सारे उत्तर भारत में फैला हुआ था। शिव के जो चित्र इन सिक्कों पर अंकित हैं, उनसे ज्ञात होता है कि शिव के स्वरूप में रामायण-महाभारत से लेकर तबतक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था।

अब हम ईसा की चौथी शती में आते हैं, जब उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य की नींव पड़ी। इस समय के साहित्यिक अभिलेख और शिलालेख हमें प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, और उनसे तत्कालीन शैवधर्म का हमें अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। समुद्रगुप्त-कालीन प्रयाग के अशोक-स्तम्भ पर हरिषेण की प्रशस्ति में गंगावतरण की कथा का उल्लेख किया गया है[४]। शिव को यहाँ पशुपति कहा गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की उदयगिरि गुफा के शिलालेख में, उस गुफा का एक शैव-भक्त द्वारा संन्यासियों (सम्भवतः शैव) के विश्राम के लिए समर्पित किये जाने की चर्चा है[५]। इसी शिला-लेख में यह भी कहा गया है कि गुफा के समर्पण समारोह के अवसर पर स्वयं चन्द्रगुप्त समर्पण-कर्त्ता के साथ गये थे। इससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त शैवों को अपना संरक्षण प्रदान करते थे, यद्यपि वह स्वयं शायद वैष्णव थे; क्योंकि 'गढवा'-शिलालेख में उनको 'परम भागवत' कहा गया है[६]। साँची शिलालेख में इसी सम्राट् को शिलालेख के लिखनेवाले 'अमरकदेव' का संरक्षक कहा गया है, जो सम्भवतः बौद्ध था। इससे ज्ञात होता है कि यद्यपि सम्राट् चन्द्रगुप्त स्वयं वैष्णव थे, फिर भी वह अन्य मतों का भी संरक्षण करते थे। धार्मिक सहिष्णुता और उदार दृष्टिकोण की यह प्रथा आगे चलकर एक सामान्य प्रथा हो गई और अधिकांश भारतीय नरेशों ने अपनी धार्मिक नीति में इसीका अनुसरण किया। चन्द्रगुप्त ईसा की चौथी शती के उत्तर भाग में राज करते थे। उनके बाद पाँचवीं शती के आरम्भ

---

१. Calcutta Museum Catalouge of Coins : (Smith) : P. 88, nos. 5-8.

२. Lahore „ „ „ : (white head) : Pl. XIX, no. 236.

३. „ „ „ „ „ : Pl. XIX, nos. 238-239.

४. C. I. I. : Pl. I, p. 1.

५. „ „ : Pl. II, b. p. 21.

६. „ „ : Pl. IV, b. p. 36.

में उनके पुत्र कुमारगुप्त गद्दी पर बैठे। इनको भी 'गढवा' और 'बिलसाड़' के शिला-लेखों में 'परम भागवत' की उपाधि दी गई है[1]। इससे प्रतीत होता है कि अपने पिता के समान यह भी वैष्णव थे और अपने पिता के समान ही सब धर्मों के संरक्षक बने रहे। मानकुंवर शिलालेख में एक बौद्ध भिक्षु बुधमित्र ने बड़े सम्मान से सम्राट् कुमारगुप्त का नाम लिया है[2]। परन्तु कुमारगुप्त के शिलालेखों में शिव अथवा शैव-धर्म के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त के राज्यकाल में ही कविवर कालिदास भी हुए थे। उनकी कृतियों से यह स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि ईसा की पहली चार शताब्दियों में शैव-धर्म ने कहाँ तक प्रगति की थी। उनके काव्यों के आदि मङ्गल श्लोकों में और नाटकों की नान्दियों में भगवान् शिव की ही स्तुति की गई है। इससे पता चलता है कि वह स्वयं शैव थे। इन्हीं पद्यों से शिव के विकसित स्वरूप का भी ज्ञान होता है। इनमें सबसे छोटा पद्य रघुवंश में है[3]। यहाँ शिव, जिनको 'परमेश्वर' कहा गया है, और पार्वती की इकट्ठी स्तुति की गई है। वे जगत् के माता-पिता हैं और इस प्रकार एक दूसरे से संसक्त हैं जैसे शब्द और अर्थ। जैसा कि आगे चलकर हम देखेंगे, शिव का यह स्वरूप बिलकुल वही है जिसकी व्याख्या बाद में शैव सिद्धान्त-दर्शन में की गई है। 'विक्रमोर्वशी' नाम के रूपक की नान्दी में उन्होंने भगवान् शिव को एक पुरुष के रूप में देखा है। वह वेदान्त का ब्रह्म भी है तथा पृथ्वी और द्यु में व्याप्त है, जिसको मोक्षाभिलाषी ध्यान तथा योग के साधनों से पाने की चेष्टा करते हैं; परन्तु भक्ति के योग द्वारा जिनको सहज ही जाना जा सकता है[4]। यहाँ वेदान्त का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि यह एक बार फिर इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि एकेश्वरवादी शैव-धर्म वेदान्त के सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल था, न कि सांख्य के, जिसके साथ उसका प्रारम्भ में सम्बन्ध था। 'मालविकाग्निमित्र' और 'शाकुन्तल' नाटकों की नान्दियों में कवि ने शिव के आठ प्रत्यक्ष रूपों का उल्लेख किया है[5], जिनमें वह स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। ये हैं—पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), सूर्य, चन्द्रमा और होता। तदनन्तर शिव की इस अष्टमूर्ति का उल्लेख धार्मिक और लौकिक साहित्य में अनेक बार होता है।

शैव-धर्म के लोकप्रचलित रूप का चित्र हमें 'कुमार-सम्भव' और 'मेघदूत' काव्यों में भी मिलता है। 'कुमार-सम्भव' में शिव-पार्वती-परिणय, मदन-दहन और स्कन्द-जन्म की कथा अपने पूर्ण विकसित रूप में दिखाई देती है और कवि ने उनको लेकर एक महाकाव्य की रचना की है। इस महाकाव्य में सबसे सुन्दर ढंग से भगवान् शिव के उस लोकप्रिय स्वरूप का चित्रण किया गया है, जिसमें वह पार्वती सहित कैलास पर्वत पर शाश्वत परम

---

१. C. I. I. : Pl. IV. c. p. 36.
२. ,, : Pl. VI. a. p. 45.
३. रघुवंश : १, १।
४. विक्रमोर्वशी : १, १।
५. शाकुन्तल : १, १; मालविकाग्निमित्र : १, १।

आनन्द की अवस्था में निवास करते हैं। 'मेघदूत' में शिव को कैलास-निवासी [1] कहने के साथ अति उग्र अथवा 'भैरव' रूप में उनके ताण्डव नृत्य करने की भी चर्चा की गई है [2]। इसके साथ-साथ इस काव्य में शिव की उपासना किस प्रकार की जाती थी, इसकी भी एक झलक मिल जाती है। उज्जयिनी में महाकाल नाम से शिव का एक प्रख्यात मन्दिर था [3]। इस मन्दिर को उज्जयिनी की प्रमुख विभूति माना गया है। इसी से पता चलता है कि यह एक बड़ा प्रसिद्ध मन्दिर था। इसमें प्रतिदिन सन्ध्या के समय भगवान् शिव की आरती होती थी। इसी प्रसंग में यहाँ एक प्रचलित प्रथा का भी कवि ने उल्लेख किया है, जिसको हमें ध्यान में रखना चाहिए। सन्ध्या की आरती के समय मन्दिर में वारविलासिनियाँ आकर नृत्य करती थीं। इन्हीं के ऊपर अपनी शीतल फुहार बरसाने और इसके पुरस्कार-स्वरूप उनकी कृतज्ञता-भरी दृष्टियों का सुख उठाने के लिए यक्ष ने मेघ से उज्जयिनी के ऊपर सन्ध्या समय तक रुके रहने को कहा था [4]। शिव-मन्दिर में वारविलासिनियों के इस नृत्य के उल्लेख का यह अभिप्राय नहीं है कि यह अवश्य ही 'देवदासी' प्रथा का एक उदाहरण है, जैसा कि कुछ लोगों की धारणा है। इन नर्त्तकियों का मन्दिर के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। वे नगर की साधारण गणिकाएँ थीं। कामसूत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन गणिकाओं का, उस समय के समाज में, एक सुनिश्चित स्थान था, जिसको किसी प्रकार भी निकृष्ट नहीं कहा जा सकता था। इन गणिकाओं का एक कार्य यह भी था कि वे मन्दिरों और अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जनता के मनोरंजन के लिए अपनी नृत्य-कला का प्रदर्शन करें। प्राचीन भारत में इस प्रथा का सारे देश में बहुत प्रचार था। अतः अधिक सम्भावना इस बात की है कि 'मेघदूत' के इस उल्लेख का संकेत इस प्रथा की ओर है; न कि 'देवदासियों' के धार्मिक नृत्य की ओर, जिसका स्वरूप बिलकुल भिन्न था।

कालिदास के ग्रन्थों और गुप्तवंश के पहले दो-तीन राजाओं के शिलालेखों के समय तक पौराणिक युग प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु हमारे अध्ययन का क्रम न टूटने पावे और इसलिए भी कि पौराणिक युग छठा शताब्दी के अन्त तक चलता है, हम पहले गुप्त-कालीन अन्य अभिलेखों का अध्ययन समाप्त कर लेते हैं। इसके बाद हम पुराणों का अवलोकन प्रारम्भ करेंगे। सम्राट् 'कुमारगुप्त' के उत्तराधिकारी 'स्कन्दगुप्त' के समय के बिहार-शिलालेख में मातृकाओं का फिर उल्लेख किया गया है और पहली बार उनका स्कन्द के साथ साहचर्य किया गया है [5]। इन मातृकाओं का 'मृच्छकटिक' में उल्लेख है। सम्भवतः ये स्थानीय देवता थीं, जिनकी उपासना का ब्राह्मण-धर्म में समावेश हो गया था। इनका स्कन्द के साथ साहचर्य कैसे हुआ, इसका निश्चित रूप से पता नहीं चलता।

---

१. उत्तर मेघ : १-२।
२. पूर्व मेघ : ३६।
३. पूर्व मेघ० : ३४।
४. पूर्व मेघ० : ३५।
५. C. I. I. : Pl. VI. b. p. 47.

सम्भव है कि इनका उन कृत्तिकाओं के साथ तादात्म्य कर दिया गया हो, जिनको स्कन्द-जन्म की कथा में नवजात स्कन्द को पाने और उसे पालने का श्रेय दिया गया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इन कृत्तिकाओं की संख्या छः थी; परन्तु ये मातृकाएँ सात हैं। इसलिए इनके तादात्म्य के लिए हमारे पास कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। परन्तु, मातृकाओं का स्कन्द के साथ साहचर्य चाहे जैसे भी हुआ हो, यह साहचर्य स्थायी हो गया और बाद में स्कन्द की उपासना का एक प्रमुख अंग बन गया।

स्कन्दगुप्त के समय के बाद हमें छठी शताब्दी में 'मंडासोर'-स्तम्भ पर 'यशोधर्मा' का लेख मिलता है। इसके आदि में जो मंगल श्लोक है, उसमें शिव की स्तुति की गई है। यहाँ भयावह और शक्तिशाली देवता के रूप में शिव की कल्पना की गई है, जिसके प्रचण्ड सिंहनाद से दानवों के दिल दहल जाते हैं। मंडासोर स्थान पर ही इसी राजा का एक शिलालेख भी मिलता है। इसमें शिव के सौम्य रूप का ध्यान किया गया है और उनको 'शम्भु' कहा गया है। उनको देवाधिदेव माना गया है। उन्हीं के आदेश से ब्रह्मा विश्व के सृजन, पालन और संहार का क्रम चलाते हैं और इसी कारण परमपिता का पद पाते हैं।

इस समय के अन्य अभिलेखों से कोई और महत्त्व की बात पता नहीं लगती। अतः अब हम पुराणों का अवलोकन प्रारम्भ करते हैं।

उपनिषदों के समय से भारतीय धार्मिक विश्वासों और आचार-विचार में जो एक नई धारा चली थी तथा जिसके प्रमुख अंग ध्यान और भक्ति थे, उसका पूर्ण विकास पुराणों के समय में हुआ। जिस रूप में पुराण-ग्रन्थ आजकल हमें मिलते हैं, वे बहुविषयक हैं। उनमें विषय, विचार और शैली की ही विविधता नहीं है, अपितु समय की भी विविधता है। उनका रचना-काल एक काफी लम्बे अरसे के वितान पर फैला हुआ है। पुराण-साहित्य स्वतः काफी प्राचीन है और अथर्ववेद तक में पुराण एवं इतिहास का उल्लेख किया गया है। यह माना जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में और रामायण-महाभारत के युग में तथा उसके बाद भी बराबर पुराणों की रचना होती रही है, जिनमें ऐतिहासिक विषयों अथवा यों कहना चाहिए कि राजवंश-सम्बन्धी ऐतिहासिक विवरणों का संग्रह रहता था। आजकल जो पुराण-ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे अधिकांश पूर्वकालीन पुराण-ग्रन्थों के ही नवनिर्मित संस्करण हैं; परन्तु उनमें बहुत-सी नई बातों का भी समावेश कर दिया गया है, जिनका सम्बन्ध समकालीन धार्मिक व्यवस्था और देवकथाओं से है। तथ्य तो यह है कि इन ग्रन्थों में इस नई सामग्री की मात्रा इतनी अधिक है कि इसके कारण पुराणों का प्राचीन ऐतिहासिक रूप का तो प्रायः लोप ही हो गया है। अधिकांश पाठकों के लिए वह शुद्ध रूप से धार्मिक आदेश-ग्रन्थ हैं। जो लोग किसी कारण वैदिक साहित्य का परिचय प्राप्त करने में असमर्थ हैं, उनके लिए तो यह पुराण ग्रन्थ ही श्रुतिसमान माने जाते हैं। अतः भारतीय धर्म के किसी भी अध्येता के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है। एक-आध ग्रन्थ को छोड़कर लगभग समस्त बड़े पुराणों—जो आजकल उपलब्ध हैं—की रचना ईसा की चौथी से छठी शती तक हो गई थी। अतः इन ग्रन्थों में धार्मिक विश्वासों और आचार-

विचारों का जो चित्र हमें दिखाई देता है, वह इसी समय का है। उससे यह पता लगता है कि रामायण-महाभारत काल से लेकर तबतक इनमें कितना विकास हुआ था।

पुराणों में हमें वेदोत्तर-कालीन शैव धर्म का पूर्ण विकसित रूप दिखाई देता है। रामायण-महाभारत में जो कुछ निहित था, वह अब व्यक्त हो गया है और जिसका वहाँ संकेत मात्र था, उसका अब अधिक विस्तृत विवरण दिया गया है। रामायण-महाभारत के समान ही पुराणों में भी शैव धर्म के दो स्पष्ट रूप हैं—दार्शनिक और लोक-प्रचलित। रामायण-महाभारत की तरह ही यहाँ भी इन दोनों का अलग-अलग अध्ययन हमारे लिए अधिक सुविधाजनक होगा।

शैव धर्म के दार्शनिक रूप की सबसे प्रमुख बात शिव का पद है। उनको अब स्पष्ट रूप से परम पुरुष अथवा परब्रह्म माना जाता है, और किसी देवता को नहीं। केवल वही एक स्रष्टा हैं, विश्व के आदि कारण हैं, और उन्हीं की महिमा का चारों वेदों में गान किया गया है[1]। वह दार्शनिकों के ब्रह्म हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं[2]। वह अव्यक्त भी हैं और जीवात्मा के रूप में व्यक्त भी हैं[3]। वह एक आदि पुरुष हैं, आत्मतत्त्व हैं, परमसत्य हैं और उपनिषदों तथा वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया है[4]। स्मृति, पुराण और आगम भी उन्हीं की महिमा गाते हैं[5]। जो बुद्धिमान और मोक्षकामी हैं, वे सब-कुछ छोड़कर इन्हीं का ध्यान करते हैं[6]। वह सर्वज्ञ हैं, सर्वस्थित हैं, चराचर के स्वामी हैं और सब प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं[7]। वह एक स्वयंभू हैं, जो विश्व का सृजन, पालन और संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं[8]। वह विश्व में व्याप्त हैं और साररूप से एक होते हुए भी अपने-आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त करते हैं[9]।

शिव के स्वरूप के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक शैवधर्म निश्चित रूप से एकेश्वरवादी हो गया था, अर्थात् वह केवल एक ही देवता की उपासना का प्रचार करता था। अन्य देवताओं को देवकथाओं में भले ही मान्यता दी जाती हो, उपासना में उनके लिए कोई स्थान नहीं था। अब शैव-धर्म के साथ-साथ वैष्णव धर्म का भी इसी ढंग पर विकास हो रहा था। पुराणों में वैष्णवों ने विष्णु को भी बिलकुल

---

१. सौर० : ७, ३०; ३८, १; ३८, ६०; लिंग० २१, १६; अग्नि० ८८, ७; ब्रह्म० १, २६; मत्स्य० : १३२, २७; १५४, २६०-२७०; वायु० ५४, १०० इत्यादि।
२. लिंग० : भाग २, २१, ४६, वायु० ५५, ३ गरुड़० १३, ६-७ इत्यादि।
३. वायु० : २४, ७१; ५४, ७४ ; अग्नि० ७४, ८२ इत्यादि।
४. सौर० : २६, ३१; ब्रह्म० १२३, १६६ इत्यादि।
५. सौर० : ३८, ६१-६२; ब्रह्म० ३६, ३६ इत्यादि।
६. सौर० : २, ८३; ब्रह्म० ११०, १०० इत्यादि।
७. वायु० : ३०, २८३-८४ इत्यादि।
८. वायु० : ६६, १०८; लिंग० भाग १, १, १ इत्यादि।
९. सौर० : २, २ इत्यादि।

वही पद दिया है जो शैवों ने शिव को दिया था। इस स्थिति और रामायण-महाभारत काल की धार्मिक स्थिति में केवल इतना ही अन्तर है कि अब विष्णु और शिव के उपासक अपने-अपने धर्म में, अपने आराध्यदेव के सिवा और किसी देवता को मान्यता देना या कम-से-कम उसे सर्वश्रेष्ठ मानना, अपने एकेश्वरवादी सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं समझते थे। ऐसी अवस्था में पहुँच जाने पर अब उनके लिए केवल दो ही मार्ग थे। एक मार्ग था (जो स्वभावतः उन्हें पहले सूझा होगा) कि प्रत्येक दल केवल अपने आराध्यदेव को ही एक ईश्वर माने और अपने धर्म को ही सच्चा धर्म समझे। दूसरा मार्ग, जो अधिक सत्य और अधिक बुद्धिमत्ता का भी था, वह इस तथ्य को पहचानना था कि इन दोनों देवताओं के उपासक वास्तव में एक ही देवता की उपासना करते थे, और इनके अपने-अपने आराध्यदेव उसी एक ईश्वर के दो रूप थे अथवा उनके दो नाम थे। पुराणों से पता चलता है कि इन दोनों दलों में जो बुद्धिमान् और विचारशील थे, उन्होंने इस दूसरे मार्ग को ही अपनाया। विष्णु और शिव की एकता पर सभी बड़े पुराणों में प्रायः जोर दिया गया है, चाहे वह पुराण शैव-पक्षी हो अथवा वैष्णव-पक्षी। उदाहरणार्थ वायु पुराण में, जो शैव पक्ष का है, शिव को स्पष्ट रूप से विष्णु से अभिन्न माना गया है[१] और अनेक स्थलों पर या तो उनको विष्णु के नाम दिये गये हैं (जैसे 'नारायण')[२], या उनको विष्णु की विशिष्ट उपाधियाँ दी गई हैं (जैसे 'लक्ष्मीपति')[३]। सौर पुराण भी शैव पक्ष का है और उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विष्णु और शिव में कोई अन्तर नहीं है[४]। वैष्णवपक्ष के पुराणों में भी यही बात दीखती है। उदाहरणार्थ मत्स्य पुराण में शिव को 'विष्णुरूपिन्' कहा गया है और विष्णु को प्रायः 'रुद्रमूर्ति' कहा जाता है[५]। ब्रह्म पुराण में स्वयं विष्णु शिव के साथ अपने ऐक्य की घोषणा करते हैं[६]। विष्णु पुराण में शिव और पार्वती को विष्णु और लक्ष्मी से अभिन्न माना गया है[७] इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर विष्णु को 'पिनाकभृक्' कहा गया है, जो शिव की विशिष्ट उपाधि है[८]। एक दूसरी जगह उल्लेख है कि दोनों एक ही हैं[९]। 'वराह पुराण' में शिव और विष्णु का एक-सा रूप है[१०] और कहा गया है कि त्रेता युग में विष्णु ने शिव का रूप धारण किया था[११]। एक अन्य

---

१. वायु० : २५, २१ और आगे।
२. ,, : ५४, ७७।
३. ,, : २४, १११।
४. सौर० : २४. ६८।
५. मत्स्य० : १५४, ७ ; २४६, ३८ ; २५०, ३०।
६. ब्रह्म० : २०६, ४७।
७. विष्णु० : ८, २१।
८. ,, : ६, ६८।
९. ,, : ३३, ४७-४८।
१०. वराह० : ६, ७।
११. ,, : १०, १६।

स्थल पर मिलता है कि परमपुरुष को विष्णु भी कहा जाता है और शिव भी[1], तथा दार्शनिकों के अव्यक्त को उमा या श्री[2]। दूसरी ओर शिव को परमपुरुष माना गया है और विष्णु से उनका तादात्म्य किया गया है[3]। इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी है। इन दो देवताओं के इस तादात्म्य के कारण और इसलिए भी कि शैव और वैष्णव मत दोनों नये ब्राह्मण धर्म के दो अंग थे और उनके मुख्य लक्षण एक-से ही थे। ये दोनों स्वतन्त्र धर्म न रह कर, एक ही धर्म के दो सम्प्रदाय हो गये। इन दोनों देवताओं के तादात्म्य के फलस्वरूप जनसाधारण में भी सब धर्मों का आदर करने और उनके श्रेष्ठांश ग्रहण करने की भावना का जन्म हुआ, जो उस समय से देश के धार्मिक जीवन का एक प्रमुख लक्षण बन जाती है। सामान्य भाव से जनसाधारण विष्णु और शिव की उपासना में कोई भारी अन्तर नहीं करते थे और नृपतिगण साधारणतया दोनों मतों को अपना संरक्षण प्रदान करते थे। अन्त में विष्णु और शिव के इस तादात्म्य को समझ जाने के फलस्वरूप ही, हम यह भी देखते हैं कि कभी-कभी एक की मूर्ति सामने रखकर दूसरे देवता की उपासना की जाती थी[4]।

इस एकेश्वरवादी विचारधारा की स्वभावतः विष्णु और शिव की अभिन्नता स्थापित करके ही इति नहीं हुई, न हो सकती थी। यदि एकेश्वरवाद को सार्थक होना था तो त्रिमूर्ति के तीसरे देवता ब्रह्मा को इसी ऐक्य के अन्तर्गत करना आवश्यक था। दूसरे शब्दों में इस त्रिमूर्ति को एकमूर्ति बनाना था। इस प्रक्रिया का भी प्रारम्भ तो महाभारत काल में ही हो गया था, जहाँ हमने देखा है कि एक बार ब्रह्मा और विष्णु को शिव के पार्श्वों में से निकलते हुए कहा गया है, जिससे यह पता चलता है कि ये दोनों शिव के अन्दर ही समाविष्ट माने जाते थे। ऐसी धारणा उस समय भी अवश्य रही होगी। इसी से त्रिमूर्ति की कल्पना का जन्म हुआ, जिसमें अन्य दो देवताओं को शिव की अभिव्यक्ति माना जाने लगा। पुराणों के समय तक त्रिमूर्ति के पीछे इस एकता की भावना पूर्णरूप से विकसित और मान्य हो चुकी थी। इसका संकेत पहले तो इस बात से मिलता है कि बहुधा तीनों देवताओं के लक्षण एक ही देवता को दे दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ जैसा हम अभी ऊपर देख आये हैं, शिव को विश्व का स्रष्टा, पालक और संहर्ता तीनों माना गया है जबकि प्रारम्भ में ये ब्रह्मा, विष्णु और शिव के कार्य थे[5]। अन्य स्थलों पर विष्णु का इसी प्रकार वर्णन किया गया है। दूसरे कुछ स्थलों पर इन तीनों देवताओं की अभिन्नता पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में कहा गया है कि केवल अज्ञानवश ही लोग ब्रह्मा, विष्णु और शिव में भेद करते हैं। वास्तव में वह एक ही परमात्मा है जो इन तीनों रूपों में व्यक्त हो, लोगों को भ्रम में डालता है और जिसकी एकता वेदों, धर्मशास्त्र और

---

१. वराह० : २५, ४।
२. ,, : २५, ४।
३. ,, : २५, १६।
४ इस प्रथा के उल्लेख कुछ बाद के पुराणों में मिलते हैं, जैसे—गरुड़० ७, ५२।
५. इसके अन्य उदाहरणों के लिए देखिए—ब्रह्म० १२६, ८।

अन्य पुराण ग्रन्थों में मानी गई है[1]। 'सौर पुराण' में शिव को एक देवता माना गया है जो ब्रह्मा और विष्णु के रूप में व्यक्त होते हैं[2]। वराह पुराण के एक संदर्भ में भी इसी विचार को लेकर कहा गया है कि शिव के शरीर में ब्रह्मा और हृदय में विष्णु का वास है[3]।

शैव धर्म के दार्शनिक रूप के अन्य लक्षण जो हमने रामायण-महाभारत में देखे थे, वे पुराणों में भी पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, आत्म-संयम और तपश्चर्या करनेवालों के ध्यान का विषय होने के नाते, शिव का योग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनको स्वयं 'महायोगी'[4] और योग-विद्या का प्रमुख आचार्य[5] माना जाता है। इसके अतिरिक्त इस समय तक शिव की उपासना के सम्बन्ध में योगाभ्यास की एक विशेष विधि का भी विकास हो गया था, जिसे 'माहेश्वर योग' कहा जाता था। इसका वर्णन सौर[6] और वायु[7] पुराणों में किया गया है। इसी रूप में शिव को 'यती'[8] आत्मसंयमी, 'ब्रह्मचारी'[9] और 'ऊर्ध्वरेताः'[10] भी कहा गया है। इसी कारण वह योगाभ्यासियों के लिए एक आदर्श भी हैं। सांख्य के साथ उनके प्राचीन सम्बन्ध की स्मृति भी पुराणों में है। उदाहरणार्थ, जैसा कि महाभारत में है, यहाँ भी उनको सांख्य, सांख्यात्मा[11] और सांख्य का उद्भव[12] कहा गया है। वह सांख्य के पुरुष हैं जिन्हें जान कर लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं[13]। परन्तु यह उल्लेख केवल एक प्राचीन कल्पना की स्मृति मात्र है; क्योंकि इस समय तक शिव का सांख्य दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। वह दर्शन तो शैव-धर्म से अलग बिलकुल एक भिन्न मार्ग पर चल रहा था और इस समय तक लगभग अनीश्वरवादी हो गया था। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जिस स्थल पर सांख्यवादियों को पुरुष रूप में शिव का ध्यान करते हुए कहा गया है, वहाँ उन लोगों को 'मौलिक सांख्य' कहा गया है, अर्थात् यहाँ संकेत उन प्राचीन सांख्यवादियों की ओर है जो परमपुरुष की एकता और प्रकृति की अनेकता को मानते थे, न कि आधुनिक सांख्यवादियों की ओर, जिन्होंने प्रकृति की एकता और पुरुषों की अनेकता के सिद्धान्त को अपनाया था।

पुराणों में शैवधर्म के दार्शनिक रूप के एक और लक्षण का भी विकास दिखाई देता

---

१. वायु० : ६६, १०९-१६ इत्यादि।
२. सौर० : २, ४; २३, ५३।
३. वराह० : ७१, २-७।
४. वायु० : २४, १५६ इत्यादि।
५. ब्रह्मवै० : भाग १, ३, २०; ६, ४ इत्यादि।
६. सौर० : अध्याय १२।
७. वायु० : अध्याय १०।
८. मत्स्य० : ४७, १३८; वायु० १७, १६६।
९. ,, : ४७, १३८; १३२, ३६; वायु० २४, १६२।
१०. ,, : ४७, १४६; वायु० १०, ६९; २४, १३४; ब्रह्माण्ड० ८, ८८।
११. ब्रह्म० : ४०, ३७; वायु० ५४, ७४, इत्यादि।
१२. वायु० : २४, ६५।
१३. ,, : २४, १६३।

है जो बाद में बड़ा महत्त्वपूर्ण हो गया। वह था—शिव के साहचर्य में उनकी पत्नी के दार्शनिक रूप का विकास। उपनिषदों में हमने एक परम पुरुष और उसकी प्रकृति अथवा माया का परिचय पाया था जिसके द्वारा वह सृष्टि का कार्य सम्पन्न करता है। इन्हीं उपनिषदों में हमने इस पुरुष का शिव के साथ तादात्म्य होते भी देखा था। अतः जब देवी के उपासकों ने अपनी उपासना के लिए दार्शनिक आधार की खोज प्रारम्भ की, तब स्वभावतः उन्होंने इस देवी का इस औपनिषदिक प्रकृति अथवा माया से तादात्म्य कर दिया और इस प्रकार शिव तथा शक्ति की सहोपासना के दार्शनिक आधार की नींव डाली, जिसकी पूर्ण भित्ति शैव सिद्धान्त में जाकर खड़ी हुई। देवी को इस प्रकार शिव की शक्ति मानने की स्थिति लगभग सब पुराणों में पाई जाती है। उदाहरणार्थ—'सौर पुराण' में उनको शिव की 'ज्ञानमयी शक्ति' कहा गया है[1], जिसके साथ और जिसके द्वारा वे सृष्टि को रचते हैं तथा अन्त में उसका संहार करते हैं। यह शक्ति शिव के इस कार्य में विभिन्न अवसरों में विभिन्न रूप धारण करती है[2]। एक अन्य स्थल पर उसको 'परा' अथवा 'परमशक्ति' कहा गया है, जो सर्वत्र व्याप्त है और जो 'मायिन्' महेश्वर की 'माया' है[3]। शिव की शक्ति अथवा माया के रूप में वह वास्तव में शिव से भिन्न नहीं है। इन दोनों के साररूपेण इस अभेद को भी स्पष्ट कर दिया गया है[4]। जो अज्ञानी हैं, वे ही इनमें भेद करते हैं, न कि जो सत्य को जानते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध ऐसा ही है जैसा अग्नि और उसकी ज्वलन शक्ति का[5]। एक स्थल पर स्वयं पार्वती ने अपने-आपको शिव से अभिन्न बताया है[6] और यह भी कहा है कि उन दोनों की एकता वेदान्त के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। वेदान्त का उल्लेख यहाँ फिर महत्त्वपूर्ण हो जाता है; क्योंकि इससे पता चलता है कि देवी की उपासना का विकास भी एकेश्वरवादी वेदान्त-सिद्धान्तों के अनुकूल ही हो रहा था।

अपने लोक-प्रचलित रूप में शैवधर्म सारभाव से अब भी वैसा ही था जैसा कि रामायण-महाभारत काल में। केवल उसका एक अधिक विस्तृत चित्र हमें दिखाई देता है और अनेक बातें जो उस समय बीजरूप में ही थीं, अब विकसित और स्पष्ट हो जाती हैं। शिव और पार्वती की सहोपासना ही अब भी शैवधर्म के लोक-प्रचलित रूप का सबसे प्रमुख अंग है। शिव का स्वरूप भी वैसा ही है जैसा कि रामायण-महाभारत काल में था, अन्तर केवल इतना ही है कि शैवधर्म के अधिक स्पष्ट रूप से एकेश्वरवादी हो जाने के फलस्वरूप अब शिव की सर्वश्रेष्ठता और उनके 'एकोहं न द्वितीयः' भाव पर अधिक जोर दिया जाता है। उनको एकेश्वर, सर्वप्रभु माना जाता है और उन्हें 'महेश्वर', 'महादेव' और 'देवदेव' कहा जाता है[7]। मामूल के मुताबिक उनकी एक कृपालु और कल्याणकारी देवता के रूप में

१. सौर० : २, १६।
२. ,, : २, १८; ५५, ८, १४।
३. ,, : २, १४, १६।
४. ,, : २, १७।
५. ,, : २, १८-१६।
६. ,, : ५५, ७।
७. मत्स्य० : १३६, ५; सौर० ७, १७; ३८, १; ३८, १४।

कल्पना की जाती है, जिनकी दया से भक्तजन मोक्ष को प्राप्त होते हैं। भक्त की भक्ति पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है; क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करने और उनसे वरदान पाने का यही एक मात्र उपाय है[1]। कोई कितना भी बाह्य आडम्बर करे, अध्ययन करे अथवा तर्क करे, भक्ति के बिना यह सब व्यर्थ है। भक्ति के महत्त्व को यहाँ तक बढ़ाया है कि एक स्थल पर तो स्पष्ट कह दिया गया है कि भगवान् के सूक्ष्म रूप को तो केवल भक्त ही देख सकता है। देवता और साधारण मानव तो केवल उनके स्थूल रूप के ही दर्शन कर पाते हैं[2]। इसी रूप में शिव को सदाचार का देवता भी माना गया है, जो प्राणिमात्र के कृत्यों को देखते रहते हैं और देवताओं अथवा मानवों में जो कोई भी मर्यादा का उल्लंघन करता है अथवा कोई पाप करता है, उसी को दण्ड देते हैं। शिव का यह रूप बड़ा प्राचीन है और 'ऐतरेय ब्राह्मण' में हमने इसकी पहली झलक देखी थी। रामायण-महाभारत में यह कुछ स्पष्ट नहीं है; परन्तु पुराणों में इस रूप का विस्तृत वर्णन किया गया है और 'सोम' तथा 'तारा' की कथा इसी के उदाहरणस्वरूप दी गई है। ऐतरेय ब्राह्मणवाली प्रजापति के पाप की कथा के समान यहाँ भी, जो सोम के अतिक्रमण से कुपित हो, उसको यथोचित दण्ड देने वाले शिव ही हैं। अन्य देवताओं में यह सामर्थ्य नहीं है[3]।

शिव के साहचर्य में पार्वती के गुण भी वैसे ही हो जाते हैं। रामायण-महाभारत के समान यहाँ भी, उनकी एक सौम्य और दयाशील स्त्री देवता के रूप में कल्पना की गई है, जिनका सारा विश्व सत्कार करता है और जिनके अनुग्रह के लिए प्रार्थना करता है[4]। एक नई बात जो उनके स्वरूप में हमें पुराणों में दिखाई देती है—जो सम्भवतः शिव के सहचरी का रूप और महादेवी रूप के परस्पर प्रभाव का फल था—वह है, उनके स्वरूप का सौम्यीकरण। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ तो हम रामायण-महाभारत में ही देख चुके हैं, जब शिव की सहचरी के रूप में उनको 'देवी', 'महादेव' और 'देवकन्या' कहा गया है। पुराणों में इसी प्रक्रिया का और अधिक विकास दृष्टिगोचर होता है। जैसे शिव परमपिता थे, वैसे ही यह अब महामाता मानी जाती हैं, और अनेक स्तुतियों में उनके इस रूप का गान हुआ है[5]। उनमें उनको जगत् का नियंत्री, सर्वशक्तियों की जननी, विश्वमाता और संसार की कल्याण-कारिणी आदि कह कर उनकी आराधना की गई है। उनको आदि प्रकृति और वेदान्त का उद्गम माना गया है। परन्तु कहीं भी उनके शिव के घनिष्ठ साहचर्य को दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया गया है और सदव ही उनको 'शिवप्रिया' मानकर ही स्मरण किया जाता है।

पार्वती को शिव की शक्ति माने जाने के फलस्वरूप शिव और पार्वती का जो तादात्म्य हुआ, इस विचार की अभिव्यक्ति जनसाधारण में एक नई कल्पना द्वारा हुई। यह शिव

---

१. मत्स्य० : १८३, ५१; सौर० २, १४, इत्यादि।

२. सौर० : २४, ४३-४४।

३. मत्स्य० : अध्याय २३; अग्नि० अध्याय २७४; यही कथा कुछ परिवर्तित रूप में 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में भी मिलती है—भाग ३, अध्याय ५८।

४. अग्नि० : ६६, १००-१०६; सौर० २५, १३-२३ इत्यादि।

५. सौर० : २५, १३-२३; मत्स्य० १३, १८ इत्यादि।

के 'अर्धनारीश्वर' रूप की कल्पना थी, जो शिव और पार्वती के वास्तविक अभेद का प्रतीक बन गया। इस रूप में शिव को पुरुष और स्त्री दोनों माना जाता था और उनका रूप आधा पुरुष और आधा स्त्री का था। पुराणों में शिव के इस रूप की अनेक बार चर्चा होती है, विशेषकर शिव और पार्वती—दोनों की सहोपासना के प्रसंग में। उदाहरणार्थ 'मत्स्य पुराण' में जब शिव की पार्वती के साथ उपासना की गई है तब शिव को यही उपाधि दी गई[1]। इसी पुराण में आगे चलकर यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा के वरदान से पार्वती शिव के साथ स्थायी रूप से संयुक्त हो गई थी[2]। 'वायु पुराण' में शिव को पुरुष और स्त्री रूपधारी कहा गया है[3]। शिव का यह रूप बड़ा लोकप्रिय हो गया और प्रायः चित्रों और मूर्तियों में इसी को मूर्तरूप दिया जाता था।

शिव और पार्वती की उपासना विधि का भी पुराणों में विस्तृत वर्णन किया है और साररूपेण यह वैसी ही थी जैसी रामायण-महाभारत काल में। शिव और पार्वती से प्रार्थनाएँ की जाती थीं, जिनमें उनके प्रति पूर्ण भक्ति प्रकट की जाती थी और उनकी कृपा तथा उनके अनुग्रह के लिए विनती की जाती थी। उनकी प्रशंसा में बड़े-बड़े स्तोत्रों का पाठ किया जाता था[4]। शिव और पार्वती की सार्वजनिक उपासना साधारणतया मन्दिरों में ही होती थी, जिनमें इनकी मूर्तियों की स्थापना की जाती थी। पुराणों में जिन शिवमूर्तियों की चर्चा की गई है, वे तीन प्रकार की हैं। एक तो साधारण मानवाकार प्रतिमाएँ, जो साधारण रूप से पत्थर अथवा धातु की बनी होती थीं, और इनमें शिव की आकृति सुन्दर, उनके वस्त्र श्वेत और भुजाएँ दो अथवा चार होती थीं। नव चन्द्र आदि भी कभी-कभी इन मूर्तियों में दिखाये जाते थे। कुछ अन्य मानवाकार मूर्तियों में शिव का क्रूर रूप भी चित्रित होता था। 'मत्स्य पुराण' में इन मूर्तियों के निर्माण के लिए विस्तृत आदेश दिये गये हैं[5]। परन्तु इन मानवाकार मूर्तियों से भगवान शिव की लिंगाकार मूर्तियों की संख्या कहीं अधिक थी और इन लिंग-मूर्तियों की सब पुराणों में खूब चर्चा की गई है[6]। वास्तव में यह लिंग अब भगवान् शिव का एक पुनीत प्रतीक बन गया था और इसको बड़ी आदर की दृष्टि से देखा जाता था। पुराणों में कहा गया है कि समस्त देवतागण, यहाँ तक कि ब्रह्मा और विष्णु भी, इस लिंग की उपासना करते हैं[7] तथा 'लिंग पुराण' तो इसीके महिमागान के लिए रचा ही गया है।

परन्तु पुराणों में शिव की लिंग-मूर्ति का जिस प्रकार वर्णन किया गया है, और

---

१. मत्स्य० : ६०, २२।
२. ,, : १५७, १२।
३. वायु० : २४, १४१।
४. ऐसे स्तोत्र प्रायः सभी पुराणों में मिलते हैं।
५. मत्स्य० : २६१, २३ इत्यादि।
६. मत्स्य० : १८३, ६; १८५, ५७; १९३, १०; सौर० ४, ३; अग्नि० ५३, १।
७. सौर० : ४१, ६; लिंग० ७३, ७; ७४, २-५।

उस समय की लिंगमूर्तियों को देखते हुए यह सिद्ध होता है कि पुराण काल तक लिंग-मूर्तियों का आकार नितांत रूढ़िगत हो गया था, और उनको देखकर किसी को यह विचार आ ही नहीं सकता था कि 'लिंग-मूर्तियाँ' प्रारम्भ में जननेन्द्रिय का चिह्न होती थीं। उनकी उपासना में भी जननेन्द्रिय उपासना-सम्बन्धी कोई लक्षण नाम मात्र का भी नहीं है। यह उपासना बिलकुल वैसे ही की जाती थी, जैसी शिव की मानवाकार मूर्तियों की। पुराणों में ऐसे अनेक मन्दिरों का उल्लेख है, जिनमें लिंग-मूर्तियों की स्थापना की गई थी और इन उल्लेखों से पता चलता है कि उस समय तक लिंग-मूर्तियों की उपासना समस्त भारतवर्ष में होती थी। इनमें से कुछ मन्दिर ऐसे स्थानों पर थे, जहाँ शिव-सम्बन्धी कोई घटना घटी है, ऐसा माना जाता था। ऐसे मन्दिर बड़े प्रसिद्ध हो गये थे और दूर दूर से लोग वहाँ तीर्थ-यात्रा को आते थे। इन स्थानों की एक सूची सौर पुराण में दी हुई है और वहाँ शिव की आराधना करने से क्या पुण्य मिलता है, उसका विस्तृत वर्णन भी दिया गया है[१]। अग्निपुराण में लिंग-मूर्तियों के निर्माण और प्रतिष्ठापन के लिए विस्तृत आदेश दिये गये हैं[२] और अनेक प्रकार की लिंग मूर्तियों का उल्लेख भी किया गया है[३]। कुछ तो छोटी-छोटी होती थीं, जिनको आसानी से इधर-उधर ले जाया सकता था और जिनकी उपासना प्रायः घरों में होती थी। मन्दिरों में बृहदाकार अचल मूर्तियों का प्रतिष्ठापन किया जाता था। यह दोनों ही प्रकार की मूर्तियाँ किंचित् शंक्वाकार और खूब गोलाई लिए होती थीं। वे पकी मिट्टी, कच्ची मिट्टी, लकड़ी, पत्थर, स्फटिक, लोहे, ताँबे, पीतल, चाँदी, सोने अथवा रत्नों की बनाई जाती थीं[४]। लिंग-पुराण में भी इन विभिन्न प्रकारों की लिंग-मूर्तियों का वर्णन किया गया है[५] लिंग-मूर्तियों के निर्माण के सम्बन्ध में 'मुखलिंगों' की भी चर्चा की गई है। इन मूर्तियों में लिंग पर शिव की पूरी या आंशिक आकृति खुदी रहती थी[६]। इस प्रकार के अनेक लिंग मन्दिरों में विद्यमान थे।

भगवान् शिव की मानवाकार और लिंगाकार मूर्तियों के अतिरिक्त उनके अर्धनारीश्वर रूप की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं, यद्यपि इनकी संख्या इतनी अधिक नहीं थी। इन मूर्तियों के निर्माण के आदेश 'मत्स्य पुराण' में दिये गये हैं[७]। इन मूर्तियों का दायाँ पक्ष जो पुरुषाकार होता था, उसमें भगवान् शिव के जटाजूट, वासुकि सर्प, हाथ में कमण्डल अथवा नर-कपाल और त्रिशूल चित्रित रहते थे। वस्त्र या तो 'कृत्ति' अथवा पीत वसन होता था। मूर्ति के स्त्री-भाग की भूषा होती थी—सिर पर मुकुट, भुजा और कण्ठ में उपयुक्त आभूषण तथा सामान्य स्त्रियोपयोगी वस्त्र। इन मूर्तियों के सामने शिव-पार्वती की सहोपासना की जाती थी।

---

१. सौर० : ४ और ८।
२. अग्नि० : ५३, १ और आगे।
३. ,, : ५४, ८ और आगे।
४. ,, : ५४, १ और आगे।
५. लिंग० : अध्याय ७४।
६. अग्नि० : ५४, ४१-४८।
७. मत्स्य० : अध्याय २६०।

इन तीन प्रकारों की मूर्तियों के अतिरिक्त 'मत्स्य पुराण' में एक बार शिव और विष्णु की संयुक्त मूर्ति का भी उल्लेख किया गया है, जिससे इन दोनों देवताओं का तादात्म्य सिद्ध होता है[1]। इस प्रकार की मूर्तियाँ अपर काल में भारत से बाहर उन देशों में बहुतायत से पाई जाती हैं, जिनपर भारतीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा था। परन्तु स्वयं भारतवर्ष में इनकी संख्या बहुत कम ही रही और इसका कारण सम्भवतः यह था कि यहाँ शैव और वैष्णव दोनों मतों में जो साम्प्रदायिकता की भावना कुछ समय बाद उत्पन्न हो गई, वह शिव और विष्णु की संयुक्तोपासना के विकास के अनुकूल नहीं थी।

शिव के 'त्रिमूर्ति' स्वरूप को लेकर जो प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं, उनके सम्बन्ध में पुराणों में कुछ नहीं कहा गया; परन्तु ऐसी मूर्तियाँ सम्भवतः इस समय भी बनती रही होंगी; क्योंकि अपर काल में हमें इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं।

पार्वती की प्रतिमाओं के निर्माण के सम्बन्ध में भी पुराणों में आदेश दिये गये हैं, और भगवान् शिव की मूर्तियों के समान इन मूर्तियों की उपासना भी उसी प्रकार होती थी।

सामान्यतः शिव और पार्वती की उपासना प्रतिदिन की जाती थी और 'अग्नि' तथा अन्य पुराणों में इसके सम्बन्ध में आदेश भी दिये गये हैं[3]। परन्तु वर्ष में कुछ दिन, शिव की उपासना के, विशेष दिन माने जाते थे, जब यह उपासना विशेष विधियों द्वारा संपन्न होती थी। उदाहरणार्थ 'मत्स्य पुराण' में[4] 'कृष्णाष्टमी' के दिन गो, भूमि, सुवर्ण और वस्त्रों का ब्राह्मणों को दान करने का विधान किया गया है और इसके उपरान्त सायंकाल को भगवान् शिव की पूजा होती थी। इस पूजा में अनेक उपहार भगवान् को चढ़ाये जाते थे, और छः पुण्य वृक्षों के पत्रों की अपेक्षा होती थी। पूजा के उपरान्त ब्राह्मणों को कुछ और दान भी दिया जाता था। इस दिन भगवान् शिव की विधिवत् उपासना करने से बड़ा पुण्य मिलता था, देवता तक ऐसे भक्त का आदर करते थे और वह रुद्र लोक में जाकर परमानन्द को प्राप्त होता था। प्रत्येक मास में शिव की विभिन्न नाम से उपासना की जाती थी। एक और तिथि थी, जब शिव की विशेष उपासना की जाती थी; वह थी—'अनंग त्रयोदशी'। इस दिन भगवान् शिव ने 'काम' को भस्म किया था और पुराण में इस दिन की उपासना विधि का वर्णन दिया गया है[5]। कृष्णाष्टमी की पूजा के समान इस पूजा में भी विभिन्न महीनों की त्रयोदशी पर शिव की विभिन्न नामों से उपासना होती थी। परन्तु यह नाम कृष्णाष्टमी की पूजा से भिन्न है। 'अनंग त्रयोदशी' की पूजा अपेक्षाकृत सरल थी। इस दिन केवल प्रार्थना की जाती थी और शिव-मूर्ति की पुष्प, फल और धूपादि से अर्चना की जाती थी। इस पूजा की एक विशेष बात यह थी कि इसमें शिव को 'नैवेद्य' दिये जाते थे।

---

१. मत्स्य० : अध्याय २६०।

२. ,, : २६०, २१ और आगे।

३. अग्नि० : अध्याय ७४।

४. मत्स्य० : अध्याय ५६।

५. सौर० : अध्याय १६।

परन्तु शिवोपासना का सबसे बड़ा दिन था—'शिव-चतुर्दशी'। इस दिन जो पूजा होती थी, उसका विस्तृत वर्णन 'मत्स्य पुराण' में दिया गया है[१]। इस दिन पूर्ण उपवास रखा जाता था और इससे पहले दिन भी केवल एक बार ही भोजन किया जाता था। प्रातः-काल शिव की उमा के साथ कमल, पुष्पमालाओं, धूप, चन्दनलेप आदि से पूजा की जाती थी। एक वृषभ, सुवर्ण घट, श्वेत वस्त्र, पंचरत्न, विविध प्रकार के भोजन, वस्त्र आदि ब्राह्मणों को दान दिये जाते थे और शिव से उनके अनुग्रह के लिए प्रार्थना की जाती थी। अन्त में कुछ योग्य शैव भक्तों को आमंत्रित किया जाता था और उनका विधिवत् सत्कार किया जाता था। यह इस दिन की पूजा का सामान्य ढंग था; परन्तु जब यह तिथि कुछ विशेष महीनों में पड़ती थी, तब कुछ अन्य संस्कार भी किये जाते थे और उनमें विशेष उपहार चढ़ाये जाते थे। इस दिन भगवान् शिव की विधिवत् उपासना करने का पुण्य वास्तव में बहुत अधिक होता था। यह सहस्र अश्वमेध यज्ञों के संचित पुण्य के बराबर होता था और भक्त को ब्रह्महत्या के पाप से भी मुक्त कर सकता था। इस पूजा के पुण्य से भक्त 'गणाधिप' के पद को पा सकता था और असंख्य युगों का स्वर्ग भोगकर अन्त में शिव के सामीप्य को प्राप्त होता था।

उपर्युक्त सारे संस्कार घरेलू हैं, जो व्यक्तिगत रूप से घरों में सम्पन्न किये जाते थे। पुराणों में प्रधानतया इन्हीं घरेलू संस्कारों का विस्तृत वर्णन किया गया है। मन्दिरों में भगवान् शिव की सार्वजनिक उपासना के विषय में उनसे हमें बहुत कुछ पता नहीं चलता। जिस प्रकार की सामुदायिक उपासना का विकास ईसाई और इस्लाम धर्मों में हुआ, उसका वेदोत्तर कालीन ब्राह्मण धर्म में कुछ अधिक महत्त्व नहीं था। इस प्रकार की उपासना सदा ही औपचारिक रही और किसी के लिए उसमें सम्मिलित होना अनिवार्य नहीं था, यद्यपि इससे पुण्य अवश्य मिलता था और मन्दिरों में भगवान के दर्शनार्थ जाना भी धर्म-कार्य माना जाता था।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शिव की सहधर्मिणी की उपासना भी उन्हीं के साथ की जाती थी। परन्तु इसके अतिरिक्त एक विशेष विधि भी थी जिसमें वह दोनों साथ-साथ पूजे जाते थे और वह थी—'उमामहेश्वर व्रत' की विधि। इसका विवरण सौर पुराण में दिया गया है[२]। यह व्रत पूर्णिमा, अमावस्या, चतुर्दशी अथवा अष्टमी को किया जा सकता था। दोनों देवताओं की प्रार्थना और उपहारों के साथ-साथ पूजा होती थी और इसके उपरान्त कुछ सच्चे शिव-भक्तों को भोज दिया जाता था। जो व्यक्ति इस व्रत को श्रद्धापूर्वक करता था, वह 'शिव-लोक' को पाता था और फिर सदा आनन्द में रहता था। 'मत्स्य पुराण' में एक और संस्कार की चर्चा की गई है, जिसमें भी शिव और पार्वती की एक साथ ही पूजा होती थी[३]। यहाँ पार्वती को 'भवानी' कहा गया है। यह संस्कार भी लगभग वैसा ही था जैसा 'उमामहेश्वर व्रत' और यह वसन्त ऋतु में शुक्ल पक्ष की तृतीया को सम्पन्न होता था।

---

१. मत्स्य० : अध्याय ९५।
२. सौर० : अध्याय ४३, और लिंग० अध्याय ८४।
३. मत्स्य० : अध्याय ६४।

इसी दिन सती का भगवान् शिव से विवाह हुआ था। यह संस्कार वास्तव में सती के सम्मान के लिए ही था और शिव की उपासना उनके साथ, उनके पति होने के नाते की जाती थी। पूजा में फल, धूप, दीप और नैवेद्य चढ़ाये जाते थे[1]। पार्वती की प्रतिमा को, जिसका यहाँ स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है, दूध और सुगन्धित जल से स्नान कराया जाता था और तदनन्तर देवी का अभिवादन किया जाता था।

रामायण-महाभारत में शिव के जो दो अन्य रूप हमने देखे थे, उनका भी पुराणों में वर्णन किया गया है। यहाँ जो कुछ बताया गया है, उससे हमें केवल इन रूपों के विकास का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही इनकी उत्पत्ति और इतिहास को और अधिक अच्छी तरह समझने में भी सहायता मिलती है। इनमें से पहला तो शिव का 'कपाली' रूप है। इस रूप का अधिकांश पुराणों में रामायण-महाभारत की अपेक्षा अधिक विस्तृत वर्णन है। इस रूप में शिव की आकृति भयावह है। उनको 'कराल', 'रुद्र' और 'क्रूर' कहा गया है, उनकी जिह्वा और दंष्ट्र बाहर निकले हुए हैं और वे सब प्रकार से 'भीषण' हैं[2]। वह सर्वथा वस्त्रविहीन हैं और इसी से उनको 'दिगम्बर' की उपाधि मिली है[3]। उनके समस्त शरीर पर भभूत मली हुई है और इस कारण उनको 'वायु पुराण' में 'भस्मनाथ' भी कहा गया है[4]। ऐसी आकृति और ऐसी वेश-भूषा में वह हाथ में कपाल का कमण्डल लिये विचरते हैं[5]। उनके गले में नरमुण्ड की माला है[6]। यह नरमुण्ड-माला एक नई चीज है और इससे उनके 'कपालित्व' को और अधिक व्यक्त किया गया है। श्मशान उनकी प्रिय विहारभूमि है[7]। यहीं से वह अपने कपाल और भस्म लेते हैं और यहीं वह भूत, पिशाच आदि अपने अनुचरों के साथ विहार करते हैं। इन अनुचरों की आकृति भी ठीक शिव-जैसी ही है[8]। एक-दो स्थलों पर स्वयं शिव को 'निशाचर' कहा गया है[9]। इस रूप में शिव को बहुधा 'कपालेश्वर' भी कहा जाता है।

शिव के इस रूप की उपासना जन-साधारण में सामान्य रूप से प्रचलित नहीं थी। यह बात ऊपर शिव के इस रूप की उपासना की विधि का जो हमने वर्णन दिया है, उसीसे नितान्त स्पष्ट हो जाती है। जैसा हमने पिछले अध्याय में कहा था, जनता का एक वर्ग विशेष प्रारम्भ से ही शिव की इस कापालिक रूप में उपासना करता था और बाद में भी करता रहा। यह वर्गविशेष अब एक निश्चित सम्प्रदाय बन गया था, जिसको 'कापालिक' कहते थे। यह लोग रमता साधु होते थे, जिनका दावा था कि तथाकथित योगाभ्यास और

---

१. मत्स्य० : ६०, १४-४४।
२. ,, : ४७, १२७ और आगे; अग्नि० ३२४, १६।
३. ,, : १५५, २३; ब्रह्माण्ड० भाग १, २७, १० ; सौर० ४१, ६६।
४. वायु० : ११२, ५३।
५. ब्रह्म० : ३७, ७ ; वायु० २४ १२६ ; ५४, ७० ; ५५, १४ ; मत्स्य० ४७, १३७।
६. वायु० : २४, १४० ; वराह० २५, २४ ; सौर० ५३, ५, ब्रह्म० ३७, ७।
७. ,, : २४, १४० ; वराह० २५, २४ ; अग्नि० ३२२, २ ; ब्रह्म० ३७, १३ ; ३८, ३६।
८. मत्स्य० : ८, ५ ; ब्रह्म० ३८, ३७।
९. सौर० : ४१, ५१ ; वायु० १०, ४६।

तंत्रचर्या से उन्हें मानवोत्तर शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं। इन्होंने अपनी वेश-भूषा भी ऐसी बना ली थी कि उसके असाधारणपन से ही लोगों पर प्रभाव पड़ता था। पुराणों के समय तक इन 'कापालिकों' ने रुद्र के प्राचीन उग्र रूप का विकास करके उसको 'कपालिन्' का विचित्र और भयावह रूप दे दिया था। इन लोगों ने अपना वेश भी अपने उपास्यदेव जैसा ही बना लिया था और प्रायः दिगम्बर अवस्था में कपाल-कमण्डलु हाथ में लिये और शरीर पर भस्म मले ये विचरते थे। जहाँ कहीं भी ये जाते श्मशान-भूमि में ही निवास करते। इन लोगों की उपासना को व्यवस्थित रूप से कोई मान्यता नहीं दी जाती थी और साधारण रूप से इसकी निन्दा भी की जाती थी; परन्तु इसको दबाने के लिए भी कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया था। सौर पुराण में कापालिकों की विधर्मियों में गणना की गई है। परन्तु जैसा कि हमने महा-भारत में देखा था, जैसे-जैसे समय बीतता गया, शिव की कपालिन् रूप में उपासना नहीं करनेवाले भी कुछ-कुछ इसकी मान्यता देने लगे—अर्थात् वे शिव के अन्य रूपों में उनके 'कपालिन्' रूप को भी गिनने लगे तथा इस कारण इस रूप पर आधारित शिव की अनेक उपाधियों का, उनकी अन्य उपाधियों के साथ, सर्वत्र उल्लेख होने लगा। पुराणों में यह बात महाभारत की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट है। परन्तु शिव के 'कपालिन्' रूप को मान्यता देने से ही, एक प्रकार से कापालिक सम्प्रदाय को भी मान्यता मिल ही गई, और सम्भवतः इसी कारण उसको दबाने के लिए कोई निश्चित कदम नहीं उठाया गया। यह सम्प्रदाय अभी हाल ही तक विद्यमान था। तथापि जनसाधारण की ओर से इसके प्रति विरोध बढ़ता ही गया और इसीके फलस्वरूप इसके अनुयायियों की संख्या घटती गई। इसके साथ-साथ कापालिकों ने भी अपने विचारों और आचार की एक तर्क-संगत व्याख्या करने का और अपने मत को सम्मानित बनाने का प्रयत्न किया। पुराणों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'ब्रह्माण्ड पुराण' में ऋषियों के एक प्रश्न के उत्तर में स्वयं भगवान् शिव अपने कपालिन् रूप के विभिन्न लक्षणों की व्याख्या करते हैं[२]। वह अपने शरीर पर भभूत इसलिए मलते हैं कि वह एक ऐसा पदार्थ है जो अग्नि द्वारा पूर्णतया भस्म किया जा चुका है और अग्नि के सर्व परिशोधक होने के कारण यह भी परिशुद्ध है। अतः भभूत के परम पूत होने के कारण जो उसे अपने शरीर पर लगाता है, उसके समस्त पाप कट जाते हैं। जो व्यक्ति भभूत से 'स्नान' करता है, वह विशुद्धात्मा, जितक्रोध और जितेन्द्रिय होकर भगवान् शिव के धाम को प्राप्त होता है। नग्न रहने के सम्बन्ध में भगवान् शिव ने कहा है कि सब प्राणी नंगे ही पैदा होते हैं, अतः नग्नता में स्वतः कोई दोष नहीं है। इससे तो मनुष्य के आत्म-संयम की जाँच होती है और इसीसे व्यक्ति विशेष का आत्म-संयम प्रतिविम्बित भी होता है। जिनमें आत्म-संयम नहीं है, वे ही वास्तव में नग्न हैं, चाहे वे कितने भी वस्त्र धारण क्यों न करें। जो आत्मसंयमी हैं, उनको वाह्य आवरणों से क्या वास्ता? इसी प्रकार श्मशान-भूमि में विचरने से भी व्यक्ति अपनी प्राकृतिक भावनाओं पर कितना नियंत्रण रख सकता है,

१. सौर० : ३८, ५४।

२. ब्रह्मा० : भाग १, २७, १०५ और आगे।

इसकी जाँच होती है। जो इस प्रकार नियंत्रण रख सकते हैं और दक्षिण-पथ के अनुसार श्मशान भूमि में निवास करते हैं। वे अपनी इच्छाशक्ति की उत्कृष्टता का प्रमाण देते हैं और इसी कारण उनको अमरत्व और 'ईशत्व' प्राप्ति का अधिकारी माना गया है। इस प्रकार कापालिक सम्प्रदाय ने अपने मत की तार्किक पुष्टि करने की और अपने घृणित कृत्यों पर धार्मिक पवित्रता का आवरण डालने की चेष्टा की है। उनकी युक्तियाँ ऊपर से कुछ तर्कसंगत जान भी पड़ती हैं, और यह सम्भव है कि कुछ लोग उनसे कायल भी हो गये हों। कापालिकों ने यहाँ तक संतोष नहीं किया। उन्होंने अपनी जीवन-चर्या को एक 'व्रत' बताना भी प्रारम्भ कर दिया। कोई भी व्यक्ति किसी घोर पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए यह व्रत धारण कर सकता था। इसका एक उदाहरण हमें भगवान् शिव द्वारा ब्रह्मा का सिर काट लेने की कथा में मिलता है, जहाँ स्वयं शिव ने यह 'व्रत' किया था[1]। ब्रह्म-हत्या का पाप मिटाने के लिए भगवान् शिव ने कापालिक का रूप धारण किया, अर्थात् दिगम्बर हो, शरीर में भस्म लगाये, उन्होंने सब प्रमुख तीर्थ-स्थानों की यात्रा की और उसके पश्चात् ब्रह्मा का कपाल, जो उनके हाथ से संलग्न हो गया था, छूट कर गिर गया। इस प्रकार शिव ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हुए। परन्तु अपने मत को मान्यता दिलवाने की कापालिकों की यह चेष्टा कुछ अधिक सफल नहीं हुई। इसका जादू-टोने के साथ इतना गहरा सम्बन्ध था और इसका समाज-विरोधी रूप इतना स्पष्ट था कि यह कभी भी सर्वमान्य नहीं हो सकता था। कापालिकों का सदा ही एक छोटा-सा सम्प्रदाय रहा, जिससे जनसाधारण सामान्यतः कतराते थे।

शिव का दूसरा रूप, जिसकी उपासना अपेक्षाकृत कम ही लोग करते थे, एक विलासप्रिय देवता का रूप था। रामायण-महाभारत में हमने देखा था कि इस रूप में शिव का किरातों के साथ सम्बन्ध था और इसी जाति के किसी आदि देवता को आत्मसात् करने के फलस्वरूप शिव के इस रूप की उत्पत्ति हुई थी। पुराणों में शिव के इस रूप के सम्बन्ध में हमें और भी बहुत-कुछ ज्ञात होता है। ब्रह्माण्ड पुराण[2] में एक कथा इस प्रकार है कि एक बार भगवान् शिव वन में ऋषियों के आश्रम में गये। इस अवसर पर उनकी वेशभूषा पूर्णरूप से एक विलासप्रिय देवता की-सी थी। उनका शरीर भोंडा और सर्वथा आवरण-हीन था और उनके केश बिखरे हुए थे। वन में पहुँचते ही वे बड़े उच्छृङ्खल ढंग से आमोद-प्रमोद करने लगे। कभी अट्टहास करते थे, कभी स्वप्निल ढंग से गाते थे, कभी कामातुर पुरुष के समान नृत्य करते थे और कभी जोर-जोर से रोने लगते थे। आश्रम की महिलाएँ शिव के इस आमोद-प्रमोद पर पूर्णरूपेण मुग्ध हो गईं और बड़े चाव से उस विलास-लीला में सम्मिलित हो गईं। यह दृश्य देख कर आश्रम के ऋषि अत्यन्त क्षुब्ध हुए तथा शिव को बुरा-भला कह और उनको दण्ड देकर वे ब्रह्मा के पास गये। वहाँ ब्रह्मा ने बताया कि जिसने आपकी स्त्रियों को आचारभ्रष्ट किया है, वह मतवाला पुरुष और कोई नहीं, साक्षात् भगवान् शिव हैं। अन्त में कथा वहीं, ऋषियों द्वारा शिव की स्तुति करने

१. वराह० : ९७, ५ और आगे।
२. ब्रह्मा० : भाग १, अध्याय २७।

और शिव का उनको वरदान देने के साथ, समाप्त होती है। परन्तु इस कथा से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है कि शिव का यह विलास-प्रिय देव-रूप सर्वथा बाह्यप्रभाव-जन्य था। 'सौर' और 'लिंग' पुराणों में इसी कथा के अपेक्षाकृत नवीन संस्करण मिलते हैं, जिनमें शिव के इस रूप को कुछ कम आपत्तिजनक बनाने की चेष्टा की गई है[१]। परन्तु इनमें भी इस रूप के प्रधान लक्षण तो मिलते ही हैं। 'अग्नि पुराण' में भी यह प्रसंग आया है कि शिव विष्णु के स्त्रीरूप पर मुग्ध हो गये थे, और उस माया के लिए उन्होंने पार्वती को भी छोड़ दिया था। अन्त में विष्णु ने ही इनका मोह दूर किया था[२]। 'मत्स्य पुराण' में जब पार्वती शिव पर उनके कामुक होने का आक्षेप करती है, तब सम्भवतः इस लांछन का आधार इसी घटना की स्मृति है[३]। शिव के 'कपालिन्' रूप के समान शिव के इस रूप का भी उनकी साधारण उपासना से कोई सम्बन्ध नहीं था और यदि यह शिव के प्राचीन स्वरूप के किसी लक्षण की स्मृति मात्र होता तो यह कब का लुप्त हो गया होता। परन्तु पुराणों के समय तक भी शिव के इस रूप का बना रहना इस बात का परिचायक है कि इस समय तक भी शिव के इस रूप की उपासना कुछ लोग करते ही होंगे। यह भी एक रोचक बात है कि ऊपर जिन उद्धरणों का उल्लेख किया गया है, उन सबमें शिव का उत्तर दिशा से सम्बन्ध है।

जिस वन में शिव ने ऋषिपत्नियों को मुग्ध किया था, वह देवदारु वृक्षों का वन था और ये वृक्ष हिमालय की उपत्यकाओं में मिलते हैं। विष्णु ने भी हिमालय प्रदेश में ही शिव को अपनी माया से मोहित किया था। इससे रामायण-महाभारत के प्रमाणों का समर्थन होता है और पिछले अध्याय के हमारे इस कथन की पुष्टि होती है कि जिस देवता को आत्मसात् करके शिव ने यह रूप पाया था, उसकी उपासना इसी उत्तर प्रदेश में होती थी। इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण हमें 'नीलमत' पुराण में मिलता है। यह एक कश्मीरी ग्रन्थ है और इसमें कहा गया है कि कश्मीर में कृष्ण चतुर्दशी के दिन जब शिव की विशेष पूजा होती थी, शैव उपासक खूब आमोद-प्रमोद करते थे, और नाचने-गाने तथा गणिकाओं की संगति में रात-भर बिता देते थे[४]। देश के अन्य भागों में इस दिन जो भगवान् शिव की पूजा होती थी, यह उसके बिलकुल विपरीत है। सम्भवतः यह उस समय की स्मृति है जब इस प्रकार का आमोद-प्रमोद उस देवता की उपासना का एक प्रमुख अंग था, जिसका अब शिव के साथ तादात्म्य हो गया था। कश्मीर से बाहर कहीं भी शिव की इस प्रकार से उपासना नहीं की जाती थी। इससे सिद्ध होता है कि यह उपासना उसी प्रदेश तक सीमित रही, जहाँ प्रारम्भ में इसका प्रचार था और इस प्रदेश में भी धीरे-धीरे इस प्रथा का लोप हो गया। यह कश्मीर में शैव धर्म के आगे के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है।

---

१. सौर० : अध्याय ६९; लिंग० भाग १, अध्याय २९।

२. अग्नि० : ३, १८।

३. मत्स्य० : १५५, ३१।

४. नील० : श्लोक ५५९।

पुराणों में भगवान् शिव के एक और रूप को देखना शेष रह गया है। वैदिक रुद्र का उग्र रूप, शिव के सौम्य रूप के विकास के कारण पीछे तो पड़ गया ; परन्तु कभी भी सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। वेदोत्तर काल में जब 'त्रिमूर्ति' की कल्पना की गई, तब शिव को विश्व का संहारक बनाया गया। बाद में जब शिव को परम देवाधिदेव का पद दिया गया, तब उनको विश्व का स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता माना जाने लगा। परन्तु जब उनकी संहर्ता के रूप में कल्पना की जाती थी, तब उनका वही प्राचीन उग्र रूप सामने आता था, यद्यपि अब इस रूप को बहुत हद तक मंगलमय बनाने की चेष्टा की जाती थी। रामायण-महाभारत काल में यह बात अधिक स्पष्ट नहीं थी, परन्तु पुराणों में तो इसको बहुत खोलकर कहा गया है। अपने उग्र रूप में शिव को एक क्रूर और भयावह महानाशकारी देवता माना गया है, जिसका कोई सामना नहीं कर सकता। इस रूप में उनको 'चण्ड', 'भैरव', 'महाकाल' इत्यादि उपाधियाँ दी गई हैं[१]। उनका रंग काला है, वे त्रिशूलधारी हैं और कभी-कभी उनके हाथ में एक 'टंक' भी रहता है। वह रुद्राक्ष की माला पहने रहते हैं और ललाट पर नव चन्द्र सुशोभित रहता है[२]। 'मत्स्य पुराण' में इस रूप में शिव को रक्त वर्ण (वैदिक रुद्र का भी यही वर्ण है), 'क्षपण', 'भीम' और साक्षात् 'मृत्यु' कहा गया है[३]। 'वायु पुराण' में उनका काल के साथ तादात्म्य किया गया है, और तीन 'कापाल' उनकी उपासना करते हैं[४]। इस रूप में उनके अनुचर रक्ष, दानव, दैत्य, गन्धर्व और यक्ष हैं[५]। यहाँ यक्षों का उल्लेख और भगवान् शिव को 'यक्षपति' कहना महत्त्व रखता है ; क्योंकि 'मत्स्य पुराण' में यक्षों को स्वभावतः निर्दय, मृत-मांस-भक्षी अभोज्य-भक्षक और मारणशील जीव माना गया है[६]। अतः यहाँ उनके साथ शिव का साहचर्य, वैदिक रुद्र के इस प्रकार के जीवों के साथ साहचर्य की याद दिलाता है। ब्रह्माण्ड पुराण में कहा गया है कि इन अनुचरों अथवा गणों की सृष्टि स्वयं शिव ने ही की थी, और वे शिव के समान रूप थे[७]। इससे शिव का यह रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। इसी रूप में शिव का एकादश रुद्रों के साथ भी सम्बन्ध है, जिनका पुराणों में प्रायः उल्लेख किया गया है। इनको शिव से ही उत्पन्न माना जाता है, अतः यह उनसे भिन्न नहीं है। परन्तु उनका जो स्वरूप है, उससे वैदिक रुद्र के उग्र रूप का ही स्मरण हो आता है। अपने इस उग्र रूप में, विश्व-संहर्ता होने के साथ भगवान् शिव की कल्पना देवताओं और मानवों के शत्रुओं के संहारक के रूप में भी की गई है, और इस सम्बन्ध में उनका सबसे अधिक प्रख्यात कृत्य 'अन्धक' का वध है[८]। जैसे-जैसे समय बीतता गया, शिव के इस उग्र रूप

१. मत्स्य० : २५२, १० ; ब्रह्मा० ४३, ६६ ; अग्नि० ७६, ५ इत्यादि।
२. अग्नि० : ७६,७ और आगे।
३. मत्स्य० : ४७,१२८ और आगे।
४. वायु० : ३१, ३२ और आगे।
५. वायु० : २४, १०७।
६. मत्स्य० : १८०, ६-१०।
७. ब्रह्मा० : भाग १, ६, २३ और आगे।
८. मत्स्य० : अध्याय १७९ ; लिंग० भाग १; अध्याय ९३ इत्यादि।

के भी अनेक प्रकार हो गये, जिनका प्रस्तर-मूर्तियों में बहुधा चित्रण किया जाता था।

हम यह पहले भी कह चुके हैं कि शिव और उनकी उपासना के प्रति रूढ़िवादियों में जो विरोध-भावना उत्पन्न हो गई थी, उसका मूल कारण शिव द्वारा अन्य आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् कर लेना और उनके लक्षण स्वयं धारण कर लेना ही था। पुराण ग्रन्थों में भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो इस विरोध-भावना की स्मृति पर आधारित हैं। कुछ स्थलों पर ऐसा भी अवश्य प्रतीत होता है कि शिव की जो निन्दा की गई है और उनपर जो आक्षेप किये गये हैं, उनके पीछे इस प्राचीन विरोध-भावना की स्मृति नहीं, अपितु तत्कालीन साम्प्रदायिक द्वेष-भावना है। सबसे पहले तो पुराणों में वह संदर्भ है, जिनमें शिव की स्पष्ट रूप से निन्दा की गई है। उदाहरणार्थ मत्स्य पुराण[1] में स्वयं पार्वती शिव को उलाहना देती हैं कि वह महाधूर्त हैं, उन्होंने सर्पों से 'अनेक जिह्वल' (द्व्यर्थक बात करनी) सीखा है, अपने ललाट के चन्द्रमा से हृदय का कालापन लिया है, भस्म से स्नेहभाव पाया है, अपने वृषभ से दुर्बुद्धि पाई है, श्मशानवास से उनमें निर्भीकत्व आ गया है और नग्न रहने से उन्होंने मनुज-सुलभ लज्जा को खो दिया है। कपाल धारण करने से वह निर्घृण हो गये हैं और दया तो उनमें रह ही नहीं गई है। आगे चलकर पार्वती ने उनको साफ साफ 'स्त्री-लम्पट' कहा है, जिसपर कड़ी दृष्टि रखने की आवश्यकता है। ब्रह्माण्ड पुराण में[2] ऋषि-पत्नियों की कथा में ऋषिगण बड़े कटु शब्दों में शिव की भर्त्सना करते हैं और उन्हें एक मत्त पुरुष मानते हैं। अन्त में ब्रह्म पुराण में[3] पार्वती की माता 'मैना' बड़े ही अपमान-सूचक शब्दों में शिव का उपहास करती हैं। उनकी दृष्टि में शिव एक निरे भिखारी हैं, जिसके पास अपनी नग्नता ढाँपने के लिए एक वस्त्र भी नहीं है, उनका साहचर्य हर किसी के लिए लज्जाजनक है, विशेष रूप से पार्वती के लिए, जिसने उन्हें अपना पति चुना था। और, इन सारे लांछनों को भगवान् शिव सर्वथा उचित मानकर स्वीकार कर लेते हैं। इन तीनों उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिव की निन्दा का आधार उनके स्वरूप के वही आपत्तिजनक लक्षण थे, जो उन्होंने अन्य आर्येतर जातियों के देवताओं को आत्मसात् करने पर धारण किये। अन्य स्थलों पर भी प्रारम्भ में शिव और उनकी उपासना को मान्यता प्रदान करने के विषय में एक अनिच्छा की भावना के और शिव को एक विजातीय देवता समझने के कई संकेत हमें पुराण ग्रन्थों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ 'लिंग' की उत्पत्ति की कथा में, जिसके विभिन्न रूप अनेक पुराणों में मिलते हैं, ब्रह्मा शिव की श्रेष्ठता को स्वीकार करने से साफ इनकार कर देते हैं। और अन्त में स्वयं विष्णु शिव के वास्तविक स्वरूप तथा उनकी महत्ता का ज्ञान कराते हैं। शिव के प्रति ब्रह्मा की इस विरोध-भावना के कारण भी वेही हैं, जो ऊपर बताये जा चुके हैं। इस प्रसंग में 'वायु पुराण'[4] में कथानक इस प्रकार है कि ब्रह्मा ने जब शिव को

---

१. मत्स्य० : १५५, ६ और आगे।

२. ब्रह्मा० : भाग १; २७, १७ और आगे।

३. ब्रह्म० : २४, २६-२७।

४. वायु० : २४, ३५ और आगे।

देखा तब उनका मुख गुफा के समान था, दोनों ओर बड़े-बड़े दंष्ट्र बाहर को निकले हुए थे, उनके केश अस्तव्यस्त थे, मुखाकृति बिगड़ी हुई थी और सामान्यतया वे बड़े भयावह लगते थे। स्वभावतः ऐसे जीव का अभिवादन करने से ब्रह्मा ने इनकार कर दिया, और फिर जब विष्णु ने उनको शिव की श्रेष्ठता का ज्ञान कराया, तब जाकर कहीं उन्होंने उनका उचित सत्कार किया। इस कथा के कुछ अन्य संस्करणों में कहा गया है कि ब्रह्मा और विष्णु दोनों ही ने शिव की महत्ता को तबतक स्वीकार नहीं किया जब-तक उन्होंने शिव लिंग के, जो उनके सामने प्रकट हो गया था, बृहदाकार को नापने में अपने-आपको असमर्थ न पाया। त्रिपुरदाह की कथा में वह प्रसंग—जहाँ त्रिपुरध्वंस के उपरान्त शिव पार्वती की गोद में शिशु के रूप में प्रकट होते हैं और इन्द्र उनपर वज्र-प्रहार करने का प्रयत्न करते हैं और जिसका उल्लेख महाभारत में हो चुका है—पुराणों में भी आता है, यद्यपि कथा दूसरी है। यहाँ[1] पार्वती के 'स्वयंवर' के अवसर पर शिव पंचशिखधारी शिशु के रूप में प्रकट होते हैं तथा पार्वती उन्हें तुरन्त पहचान लेती हैं, और उनको ही अपना पति चुनती हैं। इस समय अपने अज्ञान से इन्द्र ईर्ष्यावश कुपित हो उठते हैं और शिशु पर प्रहार करने के लिए अपना वज्र उठाते हैं; परन्तु उसी समय उनकी भुजा स्तम्भित हो जाती है तथा उनका अभिमान पूर्णरूपेण चूर्ण हो जाता है। इस कथा में भी शिव को मान्यता प्रदान करने के प्रति अनिच्छा प्रकट होती है। 'नीलमत पुराण' में कहा गया है कि जब ब्रह्मा ने शिव का अभिवादन किया तब इन्द्र का अचम्भा हुआ और उन्होंने पूछा कि आखिर ब्रह्मा से बड़ा और कौन देवता हो सकता है[2]? परन्तु पहले ही रामायण-महाभारत में हम देख आये हैं कि शिव के प्रति इस विरोध-भावना का सबसे बड़ा प्रमाण हमें दक्ष-यज्ञ की कथा में मिलता है। पुराणों में इसके जो रूप मिलते हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से सबसे प्राचीन रूप 'वराह पुराण' में है[3]। यहाँ यह कथा इस प्रकार है कि जब सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने शिव से विविध प्राणियों का सृजन करने को कहा, तब शिव ने इस कार्य के लिए अपने-आपको असमर्थ पाया और सम्भवतः यह क्षमता प्राप्त करने के हेतु, जलमग्न हो, उन्होंने तप प्रारम्भ कर दिया। उनकी अनुपस्थिति में ब्रह्मा ने सात प्रजापतियों के साधन से सृष्टि का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इन प्रजापतियों में से प्रथम दक्ष थे। कालान्तर में दक्ष ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया, जिसमें सब देवता आये। ठीक उसी समय शिव जल में से निकले और यह देखकर कि उनके बिना ही सृष्टि का कार्य सम्पन्न हो चुका है, क्रोध से भर गये। क्रोध के आवेश में उन्होंने यज्ञ को ध्वंस करने का संकल्प किया। उस समय कहा जाता है कि उनके कानों से अग्नि की लपटें निकलीं, जो 'वेताल', 'पिशाच' आदि बन गईं। इनको साथ ले वह यज्ञ-स्थल पर पहुँचे। उनका आगमन होते ही ऋत्विज अपने मन्त्र भूल गये और उन्होंने शिव को राक्षस समझा, जो उनके कार्य में विघ्न डालने के लिए वहाँ आ गया था। दक्ष के परामर्श से

१. ब्रह्म० : अध्याय २६ इत्यादि।
२. नील० : श्लोक १०८२ और आगे।
३. वराह० : अध्याय २१।

देवताओं ने शिव से युद्ध किया; परन्तु वे बुरी तरह हार गये। 'भग' की तो आँखें गईं, और 'पूषन' का जबड़ा टूटा। विष्णु ने एक बार फिर देवताओं को युद्ध के लिए इकट्ठा किया; परन्तु उसी समय ब्रह्मा ने बीच-बचाव किया। अन्त में शिव को उचित यज्ञ-भाग दे और उन्हें विष्णु का समकक्ष मानकर देवतागण लौट गये। दक्षयज्ञ-कथा का यह विशुद्ध रूप प्रतीत होता है जिसका आधार ब्राह्मण ग्रन्थों की वह देवकथा है जहाँ देवताओं ने शिव को यज्ञ-भाग नहीं दिया था। इस कथा से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में शिव का एक विजातीय देवता समझा जाता था, जो आर्य-देवमण्डल में जबरदस्ती घुस आया था। इस कथा का उत्तर भाग और भी महत्त्वपूर्ण है[1]। इसमें कहा गया है कि सती—जिसने शिव को उनके जलमग्न होने से पूर्व पति रूप में वरण किया था और जिसे बाद में ब्रह्मा ने दक्ष को पुत्री के रूप में दे दिया था—इस बात से अत्यन्त दुःखित और क्रुद्ध हुई कि उसके पति ने अकारण ही उसके पिता के यज्ञ का ध्वंस कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसने अपने पति का परित्याग कर दिया और अग्नि में कूदकर अपना प्राणान्त भी कर दिया। पुराण ग्रन्थों में इस कथा के जो अन्य रूप हैं, उनसे यह कथा ठीक विपरीत है; क्योंकि उनमें यह कहा गया है कि सती को दुःख इस बात का हुआ था कि उनके पिता शिवद्रोही थे और उन्होंने शिव की निन्दा में अपशब्द कहे थे। फिर भी कथा में थोड़ा-बहुत साम्प्रदायिक रंग मान लेने पर भी इससे यह तो बिलकुल स्पष्ट हो ही जाता है कि प्रारम्भ में शिव का तिरस्कार किया जाता था और इस तिरस्कार का कारण स्वयं उनका स्वरूप था, न कि दोषारोपकों का कोई संकुचित और तर्कविहीन छिद्रान्वेषण। बाद में इस कथा में शिव के पक्ष में अनेक परिवर्तन कर दिये गये, और दक्ष को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रकट किया गया जिसने अपने अभिमानवश शिव का उचित सत्कार नहीं किया तथा इसी कारण सर्वथा दण्ड का भागी बना। इन परिष्कृत रूपों में इस कथा का मूलाशय स्पष्ट है। दक्ष का शिव को मान्यता प्रदान न करना और उन्हें यज्ञ में भाग देने से इनकार करना, इस बात का द्योतक है कि प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी अपने धर्म में एक ऐसे देवता को स्थान देने के लिए तैयार नहीं थे, जिसके स्वरूप और जिसकी उपासना को वह अच्छा नहीं समझते थे। 'वायु पुराण' से हमें पता चलता है कि दीर्घकाल तक शैव-धर्म को मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी; क्योंकि उसमें कहा गया है कि देवताओं में यह एक अति प्राचीन प्रथा थी कि यज्ञ में शिव को कोई भाग नहीं दिया जाता था[2]। इस कथा के विभिन्न रूपों का विस्तृत निरीक्षण हम आगे चलकर करेंगे।

परन्तु शिव के प्रति यह प्राचीन विरोध-भावना बहुत समय पहले ही लुप्त हो चुकी थी, और जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं, रामायण-महाभारत के समय तक शिव सर्वमान्य देवता हो गये थे। पुराण ग्रन्थों के समय तक शैव और वैष्णव यह दोनों मत ही ब्राह्मण धर्म के प्रमुख अंग हो गये थे। शैव मत का यह पदोत्कर्ष भक्तिवाद के उत्थान और उसके शैवमत का आधार बन जाने के कारण हुआ था। इससे शैवमत के

---

१. वराह० : अध्याय २२।
२. वायु० : ३०, ११२-१३।

वे लक्षण सामने आये जो भक्तिवाद के अनुकूल थे, और अन्य लक्षण जो इस भक्तिवाद के अनुकूल नहीं थे, पीछे पड़ गये। यद्यपि शैवों के कुछ वर्ग इनको भी मान्यता देते रहे, तथापि सर्वसाधारण में उनके प्रति अधिकाधिक अरुचि होती गई और धीरे-धीरे शिवोपासना में उनके लिए कोई स्थान नहीं रहा तथा जो लोग उनके अनुयायी बने भी रहे, वे विधर्मी माने जाने लगे। इस प्रकार धीरे-धीरे शैवमत में सुधार होने से ही, वह अन्त में सर्वमान्य हुआ। इसके संकेत हमें रामायण-महाभारत में ही दीखने लगते हैं और पुराणों में तो ये प्रचुरता से पाये जाते हैं। 'लिंग' के आकार का रूढ़ीकरण और उनकी उपासना की परिवर्तित विधि की हम चर्चा कर चुके हैं। शैवमत के प्राचीन आपत्तिजनक लक्षणों का कई प्रकार से समाधान किया गया। उदाहरणार्थ—ब्रह्माण्ड पुराण में शिव का कपालिन् स्वरूप, जिसे हम ऊपर देख भी चुके हैं। सौर पुराण में शैवों से अनुरोध किया गया है कि वे अपना एक आदर्श जीवन बनायें, जो वेदोत्तर-कालीन ब्राह्मण धर्म के नैतिक सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हो[1]। जो ऐसा नहीं करते थे, उनकी निन्दा की जाती थी[2]। सुधार की इस प्रक्रिया में हो सकता है कि वैष्णवमत के प्रभाव का भी कुछ हाथ रहा हो। प्रारम्भ से शिवभक्तों को यह अवश्य ज्ञात होगा कि यदि उनके आराध्यदेव और उनके मत को मान्यता प्राप्त करनी थी तो उन्होंने इन दोनों के स्वरूप को तत्कालीन सर्वमान्य सिद्धान्तों और नैतिक स्तर के अनुकूल करना पड़ेगा। चूँकि विष्णु विशुद्ध रूप से एक आर्य देवता थे, अत वैष्णवमत शैवों के सामने सदा एक उदाहरण के रूप में रहा और अपने मत को लोकप्रिय और सर्वमान्य बनाने के लिए, जिसका अनुकरण करना उनके लिए आवश्यक था। सौर पुराण में एक स्थल पर उस समय का भी उल्लेख किया गया है, जब शैवमत की ओर बहुत कम लोग आकृष्ट होते थे[3]। उसके अनुयायियों की संख्या बढ़ाने के लिए शैवों को अपने मत का उसी ढंग पर विकास करना पड़ा, जिस ढंग पर वैष्णव मत का विकास हो रहा था और उन बातों का परित्याग करना पड़ा जो इसके विरुद्ध जाती थीं। पुराणों के समय तक यह प्रक्रिया पूरी हो चुकी थी और वैष्णव तथा शवमतों के मूल सिद्धान्तों और प्रमुख आचारों में प्रायः कोई अन्तर नहीं रह गया था। यद्यपि इस प्रकार शैवमत के कुछ प्राचीन रूपों का ह्रास हो गया, तथापि उनपर आधारित शिव की अनेक उपाधियाँ बनी ही रहीं और अन्य उपाधियों के साथ उनका बराबर और सब स्थानों पर प्रयोग होता रहा।

शैव मत के साथ इसी समय में शिव की सहचरी देवी की स्वतन्त्र उपासना का भी विकास हो रहा था। रामायण-महाभारत का निरीक्षण करते हुए हमने देखा था कि आर्यों से पूर्वकालीन एक मातृदेवता का, रुद्र की सहचरी के रूप में, स्वीकार किये जाने पर इस देवी के दो मुख्य रूप हो गये थे। एक ओर तो वह भक्तिवाद की सौम्यरूपा शिवपत्नी थी, जिसकी उपासना भगवान् शिव के साथ हा होती था, और दूसरी ओर वह एक भयावह

१. सौर० : ५०, ७१।
२. ,, : ३८, ५४।
३. ,, : ३८, ६-१०।

और शक्तिशाली देवता थीं, जो उसका आदि रूप था। परन्तु जैसा शिव के सम्बन्ध में हुआ, वैसे ही इस देवी के ये दोनों रूप भी पृथक्-पृथक् नहीं रहे और बहुधा जब उनके एक रूप की उपासना होती थी, तब उनके दूसरे रूप की ओर भी अनेक संकेत किये जाते थे। यह बात पुराणों में और भी स्पष्ट हो जाती है और इन दोनों रूपों के पूर्ण सम्मिश्रण की ओर संकेत करती है। उदाहरणार्थ जब उनका पार्वती के रूप में स्तवन होता है, तब प्रायः सदा ही उनके भीषण रूप की ओर भी संकेत किया जाता है, जिस रूप में वह दानवों का संहार करती हैं और महामाता कहलाती हैं[1]। 'ब्रह्मवैवर्त्त' पुराण के दुर्गा-काण्ड में देवी के इन दो रूपों का सम्मिश्रण अत्यन्त स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इसके विपरीत पुराणों से हमें यह भी पता चलता है कि देवी के इन दोनों रूपों के मौलिक भेद का भी कुछ-कुछ ज्ञान उस समय भी था, और जब इन दोनों रूपों की वास्तविक उत्पत्ति को लोग भूल गये तब इन रूपों का समाधान करने के लिए अनेक काल्पनिक और मनचाहे ढंग से व्याख्याएँ की गईं। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में कहा गया है[2] कि देवी प्रारम्भ में आधी श्वेत और आधी काली थीं। फिर उन्होंने अपनेको दो रूपों में विभक्त कर लिया—श्वेत और काले रूप में। आज हम देवी के इस श्वेत और कृष्ण रूप के पीछे वैदिक रुद्र की गौरांग सहचरी और सिन्धुघाटी की संभवतः कृष्णवर्णा मातृदेवता के बीच एक जातीय भेद देख सकते हैं। इन दोनों देवताओं का अन्त में तादात्म्य हो गया और यही देवी के द्विविध रूप का रहस्य है। परन्तु पुराणों के समय तक इस जातीय भेद की स्मृति लोगों में विद्यमान हो, इसकी अधिक सम्भावना नहीं जान पड़ती; क्योंकि उस समय तक शिव की सहचरी के मातृदेवता-रूप की विजातीयता को लोग बिल्कुल भूल गये थे। अतः देवी के इन दो वर्णों को अब उनके दो रूपों का प्रतीक माना जाता था और जब पार्वती के रूप में उनकी उपासना होती थी, तब उनका वर्ण श्वेत और जब उनके भयावह रूप की उपासना होती थी तब उनका वर्ण कृष्ण होता था। इसीसे मार्कण्डेय पुराण के उस संदर्भ का भी समाधान हो जाता है, जिसमें कहा गया है कि दानवों के विरुद्ध चढ़ाई करने से पहले, देवी ने अपने-आपको अम्बिका से पृथक् कर लिया और इसपर उनका रंग काला हो गया[3]।

देवी के सौम्य रूप में उनकी भगवान शिव की सहचरी के रूप में किस प्रकार उपासना होती थी, यह हम ऊपर देख चुके हैं। दूसरे रूप में, शिव की सहचरी माने जाने के बावजूद, देवी की उपासना स्वतंत्र रूप से होती रही और होते-होते उसने एक अलग मत का रूप धारण कर लिया, जिसका अपना अलग साहित्य था और अपने अलग श्रुति-ग्रन्थ तक थे। इन्हीं श्रुति-ग्रन्थों के अपरकालीन संस्करण 'तंत्र' कहलाये। इस मत में देवी की शक्ति के रूप में कल्पना किये जाने के कारण इस मत का नाम 'शाक्त मत' पड़ा। पुराण ग्रन्थों में इस मत के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं, और 'सौर पुराण' में तो 'कौलों' का नाम

---

१. मत्स्य० : १५८, ११ और आगे; १७३, २२ और आगे। वराह० २८, २२ और आगे; ६६, ६६। सौर० ४६, ५ और आगे। अग्नि० ६६,१०० और आगे। वायु० ६, ८२-८६।

२. वायु० : ६, ८२ और आगे।

३. मार्क० : ८५, ४०-४१।

तक लेकर उल्लेख किया गया है, जो बाद में शाक्तों के एक उपसम्प्रदाय के रूप में पाये जाते हैं[1]। प्राचीन मातृदेवता का शिव के सहचरी बन जाने से, शैव और शाक्त मतों में एक निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया, जिसके कारण इन दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव भी पड़ा। अतः यहाँ शाक्त मत के विकास का संक्षेप से थोड़ा-सा उल्लेख करना और यह देखना कि इसका शैव मत पर क्या प्रभाव पड़ा, अप्रासंगिक न होगा।

इस देवी के स्वरूप के विषय में बहुत-कुछ तो हमें पुराणों से ही पता चल जाता है। उसकी सदा एक क्रूर और भयावह आकृतिवाली देवता के रूप में कल्पना की जाती है। उसके साधारण नाम 'चण्डिका', 'काली', 'दुर्गा' इत्यादि हैं। वह ज्वलन्तमुखी, तीक्ष्णदंष्ट्रा, करालाकृति हैं और एक या अनेक सिंहों पर आरूढ रहती हैं। उसके आठ अथवा बीस भुजाएँ हैं और उनमें वह विविध प्रकार के अस्त्र धारण करती हैं[2]। जिस समय उसकी उपासना होती है, उसको सर्वश्रेष्ठ देवता माना जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देवता उसकी आराधना करते हैं[3]। उसके शक्ति स्वरूप का अब इतना विकास हो गया है कि उसको शिव की ही नहीं, अपितु सब देवताओं की शक्ति माना जाता है[4]। यह शाक्त मत के दार्शनिक पहलू के विकास का परिणाम था, जिसमें देवी को आद्या प्रकृति और पुरुष की माया माना जाता था और विष्णु, शिव तथा अन्य देवताओं का इस पुरुष के साथ तादात्म्य किया जाता था। परन्तु मातृदेवता के रूप में इस देवी को सदा ही शिवपत्नी माना जाता था। इससे भी इस देवी की उपासना की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। जिन संदर्भों में उनको सब देवताओं की शक्ति माना गया है, वहाँ भी केवल शिव की शक्ति के रूप में ही उनके मातृदेवता-स्वरूप का और उसकी उपासना का विस्तृत वर्णन किया गया है।

पुराणों में वर्णित देवी के इस रूप का प्रमुख कृत्य दानवों का संहार करना था। इन दानवों में सबसे बड़ा महिषासुर था। महिषासुर-वध की कथा अनेक पुराणों में दी गई है। इसके अतिरिक्त शुंभ-निशुंभ, कैटभ और वेत्रासुर का वध भी देवी ने किया था। वेत्रासुर का वध करते समय उन्होंने कात्यायनी का रूप धारण किया था[5]। इन सब वीर कार्यों में उनका क्रूर रूप ही प्रमुख है। चूँकि उनको पार्वती से भिन्न नहीं माना जाता था। अतः शिव-भक्त भी देवी की उपासना करते थे और यह उपासना प्रचलित उपासना विधि के अनुकूल ही थी। देवी की उपासना का विशेष दिवस 'उल्का नवमी' था, जो अब 'महानवमी' के नाम से प्रख्यात है। विश्वास किया जाता था कि इस दिन उन्होंने महिषासुर का वध किया था। इस पूजा का वर्णन 'सौर पुराण' में किया गया है[6]। देवी को पुष्प, धूप, नैवेद्य, दूध, दही और फल भेंट किये जाते थे और भक्तजन श्रद्धा से उनका ध्यान करते थे

---

१. सौर० : ३८, ५४।
२. वराह० : २८, २४, ६३; ४६, ५०। सौर० ४६, ६४। ब्रह्मवैवर्त० भाग २, ६४, १४।
३. ब्रह्मवै० : ६४, ६, इत्यादि।
४. वराह० : ६०, १७ और आगे। ब्रह्मवैवर्त० भाग २, ६४, ८, ४४ इत्यादि।
५. वराह० : अध्याय २८।
६. सौर० : ५०, २६, ४८।

और प्रार्थना करते थे। कन्याओं को भोजन कराया जाता था और उनको वस्त्र और आभूषणों के उपहार भी दिये जाते थे। इसी अवसर पर एक स्वस्थ गौ ब्राह्मण को दान की जाती थी। इस पूजा से जो पुण्य मिलता था, उसको भी बताया गया है। अन्त में कहा गया है कि जो देवी को इस प्रकार पूजते हैं, जो सच्चे शैव हैं, जो ब्राह्मणों और गौ का उचित आदर करते हैं, जो मांस और मद्य से विरक्त हैं और जो सदा जन-कल्याण में रत रहते हैं, उन्हीं से देवी प्रसन्न होती हैं। यह देवी की उपासना का ब्राह्मण धर्मानुकूल रूप है, जो शैवों में साधारणतया प्रचलित था। सम्भवतः वैष्णव भी इस देवी की कुछ-कुछ इसी प्रकार उपासना करते थे और देवी को विष्णु की शक्ति मानते थे। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में तो 'वैष्णवी' रूप में देवी की उपासना का उल्लेख भी हुआ है[१]।

देवी की उपासना के उपर्युक्त प्रकार के ठीक विपरीत इनकी उपासना का दूसरा प्रकार है, और इसके द्वारा इस देवी का प्रारम्भिक स्वरूप जो सारतः सर्वथा विजातीय था, जितना स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है, उतना और किसी बात से नहीं। रामायण-महाभारत में हमने देखा था कि अपने क्रूर रूप में इस देवी के सम्बन्ध में यह धारणा बनी थी कि उसे रक्त और मांस की वलि प्रिय है। पुराणों में यह और भी स्पष्ट हो जाता है। जब उनकी माहेश्वरी के रूप में कल्पना की जाती थी, तब उनको पशुवलि दी जाती थी[२]। सम्भवतः उनको मद्य भी चढ़ाया जाता था; क्योंकि उन्हें मद्यप्रिय भी कहा गया है और महिषासुर से युद्ध करते समय मदिरा-पान करके वह ताजा दम होती थीं[३]। उनको बकरे, भेड़ और भैंसे का मांस विशेष प्रिय था। देवी के इस रूप की जो लोग उपासना करते थे, वे कभी भी वही नहीं हो सकते थे, जो उनके सौम्य रूप की उपासना करते थे। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि देवी की उपासना का दूसरा प्रकार वह है जो प्रारम्भ में इनके प्राचीन आर्येतर उपासकों में प्रचलित था। वे और उनके वंशज आर्य प्रभाव के अन्तर्गत आ जाने के बाद भी उसी पुराने ढंग से देवी की उपासना करते रहे। यही नहीं, जैसे-जैसे यह देवी अन्य आदिवासी जातियों की स्त्री देवताओं को—जिनकी उपासना भी इसी प्रकार रक्त और मांस की वलियों द्वारा होती थी—आत्मसात् करती गईं, वैसे-वैसे देवी के इस रूप और इस रूप का उपासना-विधि को और बल मिलता गया। इन आदिवासी जातियों की स्त्री-देवताओं के आत्मसात् किये जाने के कुछ चिह्न तो हमने रामायण-महाभारत में भी देखे थे। पुराणों में ऐसे ही अन्य संकेत मिलते हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में स्पष्ट कहा गया है कि दुर्गा की उपासना अनेक ग्रामों में होती थी और इसी कारण उनको 'ग्रामदेवता' कहा जाता था। ठीक यही नाम उन स्थानीय स्त्री देवताओं का भी था, जिनकी उपासना आदिवासी जातियों में प्रचलित थी[४]। इसके अतिरिक्त पुराणों में अनेक निम्नकोटि के स्त्री-देवताओं का भी उल्लेख मिलता है, जिनको 'मातृकाएँ' कहा गया है और जिनकी

---

१. ब्रह्मवैवर्त० : भाग २, ६४, ४४।
२. ब्रह्मवैवर्त० : भाग २; ६४, ४८ और आगे।
३. मार्कण्डेय० : अध्याय ८३।
४. ब्रह्मवैवर्त० : भाग १; ६, ४।

उत्पत्ति के विषय में यह माना जाता है कि उनको भगवान् शिव ने दानवों के विरुद्ध संग्राम में अपना सहायता के लिए पैदा किया था[1]। वह क्रूर, रक्त पीनेवाली हैं, और उनका स्वरूप लगभग वैसा ही है जैसा आदिवासी जातियों द्वारा उपस्थित स्थानीय स्त्री-देवताओं का। इस रूप में देवी का नाम 'विन्ध्यानिलय' है, जिससे यह फिर स्पष्ट व्यक्त होता है कि उन्होंने विन्ध्य प्रदेश में पूजा जानेवाली किसी देवी को आत्मसात् कर लिया था। 'वराह पुराण' में कहा गया है कि मातृकाएँ अथवा देवियाँ, स्वयं महादेवी के अट्टहास से उत्पन्न हुई थीं[2]। अन्त में देवी द्वारा इन स्थानीय स्त्री-देवताओं के आत्मसात् किये जाने का सबसे असंदिग्ध प्रमाण यह है कि आजतक, देश के विभिन्न भागों में, प्रायः सब स्थानीय स्त्री-देवताओं को दुर्गा अथवा महाकाली के विभिन्न रूप ही माना जाता है। इस प्रकार देवी के उपासकों में अब उनके मूल उपासक ही नहीं, अपितु वे सब लोग भी शामिल हो गये, जो पहले उन स्थानीय स्त्री-देवताओं को पूजते थे, जिनका अस्तित्व अब इस महादेवी में विलीन हो गया था। हो सकता है कि देवी के स्वरूप और उपासना के कुछ अंश, जैसे कि रक्तपान में उनकी रुचि, और उनको भैंसे की बलि देना, इन स्थानीय देवताओं की उपासना विधि से लिये गये हों।

देवी के इस रूप का आर्येतर होना इस बात से भी प्रमाणित होता है कि उनको कभी-कभी नरबलि भी दी जाती थी। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में जब उनके प्रिय पशु-बलियों का उल्लेख किया गया है, तब उनमें नरबलि (जिसका यहाँ एक विशेष नाम 'मयति' दिया गया है) सबसे अधिक प्रिय बताई गई है[3]। नर-बलि के लिए उपयुक्त प्राणी छाँटने के सम्बन्ध में भी विस्तृत आदेश दिये गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय तक नर-बलि देने की प्रथा लुप्त नहीं हुई थी। बलि के लिए ऐसे युवा पुरुष की आवश्यकता थी, जो मातृ-पितृ-विहीन हो, जो रोगमुक्त हो, दीक्षित हो और सदाचारी हो। उसको उसके बन्धुओं से खरीद लिया जाता था, और यह भी आवश्यक था कि वह स्वयं खुशी से बलि चढ़ाये जाने के लिए राजी हो। जो कोई ऐसी बलि देवी को देता है, उससे देवी अत्यन्त प्रसन्न होती हैं और उसपर देवी का अनुग्रह होना निश्चित है। सचमुच ही यहाँ हम एक अत्यन्त क्रूर और भयावह देवता का साक्षात्कार करते हैं, जो रक्त और मांस-बलियों में आनन्द लेती है और जिसका स्वरूप और स्वभाव तथा जिसकी उपासना सामान्य ब्राह्मण-धर्म के इतना प्रतिकूल है कि हम यह निष्कर्ष निकाले बिना नहीं रह सकते कि इस देवता और उसकी उपासना की उत्पत्ति सर्वथा आर्येतर स्रोतों से हुई है। पुराण-ग्रन्थों से हमें यह भी पता चलता है कि यद्यपि इस उपासना का मूलोच्छेद नहीं किया गया, तथापि ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी इसकी घोर निन्दा करते थे। हमने ऊपर देखा है कि 'सौर' पुराण में 'कौलों' को विधर्मी माना गया है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में कहा गया है कि जब विष्णु ने शिव से देवी को अपनी सहचरी बनाने के लिए कहा, तब शिव ने इनकार कर दिया और बड़े कड़े शब्दों में

---

१. मत्स्य० : १७९, ६ और आगे।

२. वराह० : अध्याय ९६।

३. ब्रह्मवै० : भाग २; ६४, ९२, १०० और आगे।

देवी की निन्दा की। उन्होंने बतलाया कि वह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति में बाधक है, वह योग का द्वार बन्द करनेवाली है, वह मोक्ष की इच्छा की साक्षात् ध्वंसरूपिणी है, वह महान् अज्ञान फैलाती है, इत्यादि[२]। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस रूप में देवी की उपासना को अत्यन्त गर्हित माना जाता था।

देवी के इस रूप की उपासना के विषय में पुराणों में जो कुछ कहा गया, वह वास्तव में तंत्र साहित्य के पूरक के रूप में है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं पौराणिक युग में देवी की उपासना धीरे-धीरे एक पृथक् मत का रूप धारण कर रही थी। यह मत शाक्त मत कहलाता था और इसके अनुयायी शाक्त कहलाते थे। इस मत का उद्‌भव विजातीय होने के कारण और उसके साथ जो कतिपय प्रथाएं चल पड़ी थीं, उनके कारण भी, दीर्घकाल तक इस मत को मान्यता प्राप्त नहीं हुई। शाक्तों ने अपने मत को मान्यता दिलाने का भरसक प्रयत्न किया। पहले तो उन्होंने आर्यों के श्रुति-ग्रन्थों से ही अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया और फिर उन्होंने अपने नये श्रुति ग्रन्थ तैयार किये। यह ग्रन्थ 'तंत्र' नाम से प्रसिद्ध हुए और शाक्तों के लिए उनकी वही प्रामाणिकता थी जो ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों के लिए वैदिक और पौराणिक ग्रन्थों की। ब्रह्मवैवर्त पुराण में इन तंत्रों का नाम लेकर उल्लेख किया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि उस समय उनकी रचना हो चुकी थी[१]। परन्तु जो तंत्र ग्रन्थ अब उपलब्ध हैं, वे अपेक्षाकृत अपरकालीन हैं, यद्यपि उनमें से अनेक प्राचीन ग्रन्थों के नवीन संस्करण मात्र हैं, और उनमें बहुत-कुछ सामग्री संचित है। इनमें से जो सबसे प्रमुख ग्रन्थ हैं और जिनमें सबसे अधिक मात्रा में प्राचीन सामग्री भी मिलती है, उनसे हमें पौराणिक युग में और उसके तुरन्त बाद के समय में शाक्त मत का जो स्वरूप वर्णित मिलता है, उसका अच्छा ज्ञान हो जाता है। इन ग्रन्थों में स्वभावतः देवी को सर्वश्रेष्ठ देवता माना गया है और उसी के इर्द-गिर्द शाक्तों की समस्त उपासना केन्द्रित है। परन्तु शैव मत का प्रभाव भी यहाँ तक दृष्टिगोचर होता है कि देवी को सदा शिव की सहचरी माना गया है। देवी के स्वरूप में भी, जो प्रायः क्रूर ही रहता है, बहुत से अंश शिव के क्रूर रूप से लिये गये हैं। उदाहरणार्थ 'काली तन्त्र' में देवी के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, वह शिव के कपालिन् रूप से बहुत कुछ मिलता है। उनका मुख कराल है, केश बिखरे हुए हैं, वह कपालों की माला से विभूषित है और हाथ में सद्यःछिन्न नरमुण्ड लिये हुए हैं[३]। वह कृष्णवर्णा हैं दिगम्बरी हैं और श्मशान भूमि में विहार करती हैं। इस प्रकार वह प्रायः कपालिन् शिव का स्त्री रूप ही हैं। इसके अतिरिक्त वह विभिन्न रूपों में प्रकट होती हैं, जिनके अलग-अलग नाम हैं; जैसे—'तारा' 'महाविद्या', 'भवानी' इत्यादि। इनमें से प्रत्येक रूप के अपने-अपने विशिष्ट लक्षण हैं; परन्तु सब समान रूप से क्रूर और भयावह हैं[४]। 'प्रपंचसार तंत्र' में भी देवी का लगभग ऐसा ही

---

१. ब्रह्मवै० : भाग १, ६, ६, और आगे।
२. ब्रह्मवै० : भाग १, ६, २२।
३. काली० : १, २ और आगे।
४. ,, : अध्याय २।

वर्णन मिलता है[1]। वहाँ उनका नाम 'त्रिपुरा' है। इस नाम से फिर शिव के स्वरूप के प्रभाव का संकेत मिलता है। अन्य तंत्र ग्रंथों में देवी के स्वरूप को एक दार्शनिक आधार देने का प्रयत्न किया गया है और यह प्रयत्न पुराणों के ढंग पर ही किया गया है। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ देवी को शक्ति के रूप में, जो सृष्टि का सक्रिय तत्त्व है, उस पुरुष से ऊँचा स्थान दिया गया है, जो अपनी शक्ति के कार्यों का एक निष्क्रिय साक्षी मात्र है। इस दृष्टि से शाक्तमत वेदान्त की अपेक्षा सांख्य की स्थिति के अधिक निकट है। देवी का आदि स्वरूप कुछ तंत्र ग्रंथों में वर्णित उनकी उपासना-विधि से प्रकट हो जाता है। यह विधि 'चक्रपूजा' कहलाती थी, जो अपने विविध रूपों में शाक्त उपासना की सामान्य विधि थी। अपने मूल रूप में अतिशय आनन्दोद्रेक और उच्छृंखल मत्त-विलास इस उपासना के प्रमुख अंग होते थे। इसका वर्णन 'कुलार्णव' तंत्र में किया गया है[2]। कालान्तर में भी इसका प्रचार शाक्त मत के वामपक्षीय अनुयायियों में बना रहा, जो 'वामाचारी' अथवा 'वाममार्गी' कहलाते थे। इस उपासना में मैथुन को जो महत्त्व दिया गया है, और पूजा के दौरान में उपासक जो मदमत्त होकर उच्छृंखल विलास में लीन हो जाते थे, इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि यह देवी प्रारम्भ में एक उर्वरता-सम्बन्धी देवता थी। उसकी उपासना में यह सारी क्रियाएँ किसी दुर्भावना से अभिभूत होकर नहीं की जाती थीं; अपितु सच्चे और पूर्ण विश्वास के अधीन की जाती थीं कि इन कृतियों से धरती और पशु-पक्षियों की उर्वरता बढ़ती है। अतः इन कृतियों का देवी की उपासना में एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान था। तन्त्रों में देवी का जो स्वरूप वर्णन किया गया है, उससे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि देवी बहुधा अपने पति के साथ संभोग में रत रहती हैं और इस संभोग से उन्हें सबसे अधिक प्रसन्नता होती है[3]। बिलकुल यही बात बेबीलोनिया की देवी 'इश्तर' के सम्बन्ध में भी कही जाती थी। 'तंत्रराज तंत्र' उनका कामदेव के साथ साहचर्य भी इसी बात का द्योतक है[4]। परन्तु यह सब ब्राह्मण धर्म के सर्वथा प्रतिकूल था तथा देवी की इस उपासना की निन्दा और अमान्यता का यही कारण था। स्वयं तंत्र ग्रंथों में इस बात के अनेक संकेत मिलते हैं कि प्रारम्भ में इस शाक्तमत को लोग बुरा समझते थे और इसे मान्यता नहीं देते थे। शाक्त अपने संस्कार लुक-छिप कर करते थे, जबकि वैदिक और पौराणिक संस्कार प्रत्यक्ष रूप से किये जाते थे[5]। इसका कारण यह हो सकता है कि शाक्तों को अपने पकड़े जाने और दण्डित होने का डर था। 'कुलार्णव तंत्र' में कहा गया है कि भगवान् शिव ने तन्त्र का रहस्य ब्रह्मा और विष्णु को नहीं बताया। इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इन देवताओं के उपासकों से शाक्त मत को कोई

---

१. प्रपंचसार० : ६, ८।

२. कुलार्णव० : ८, ७३ और आगे।

३. काली० : १, ३ इत्यादि।

४. तंत्रराज० : ७, ११।

५. कुलार्णव० : २, ६; ३, ४-५। तंत्रराज० १, ६। कुलचूडामणि० १, १८-२१।

समर्थन नहीं मिला [1]। एक अन्य स्थल पर शाक्तों का जो उपहास होता था और उनपर जो सख्तियाँ की जाती थीं, उनका भी उल्लेख किया गया है [2]। बाद में अपने मत के लिए मान्यता प्राप्त करने के लिए, और उसको सम्मानित बनाने के लिए, सांख्य ने जिस पुरुष तथा प्रकृति के सिद्धान्त का विकास किया था, उसका शाक्तमत में समावेश किया गया और देवी को पुरुष की शक्ति माना जाने लगा। उपासना-विधि में भी कुछ सुधार करने का प्रयत्न किया गया जिससे वह ब्राह्मण धर्म के अधिक अनुकूल हो जाय। यह स्थिति महानिर्वाण तंत्र में पाई जाती है, जो स्पष्ट ही बाद के समय का है [3]। इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि जो मांस और मद्य-उपासना में काम आये, उसको विधिवत् परिशुद्ध किया जाय। उच्छृंखल व्यवहार और अतिशय मद्यपान का पूर्ण निषेध किया गया है। इन सुधारों के फलस्वरूप शाक्तमत में दक्षिण मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके अनुयायियों का आचरण सर्वथा वैसा ही लोक-सम्मानित होता था जैसा ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों का। उनकी उपासना-विधि भी परिष्कृत थी [4]। इनके संस्कार भी लुक-छुप कर नहीं, अपितु प्रत्यक्ष रूप से किये जाते थे; क्योंकि अब उनको गुप्त रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गई थी। महानिर्वाण तंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि समस्त तांत्रिक उपासना प्रत्यक्ष रूप से की जानी चाहिए [5]।

पुराणों में गणेश भी एक स्वतंत्र देवता के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं और उनकी उपासना भी अब अपनी विकसित अवस्था में दिखाई देती है। सूत्र-ग्रन्थों में हमने देखा था कि इस देवता का आदि स्वरूप एक उपद्रवी 'विनायक' का था और सम्भवतः प्रारम्भ में वह रुद्र का एक रूप था। पुराणों में हमें गणेश के इस प्राचीन स्वरूप के और रुद्र तथा गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य के और संकेत मिलते हैं। 'मत्स्य पुराण' में ब्रह्मा ने गणेश को 'विनायकपति' कहा है [6]। 'वराह पुराण' में इनका उल्लेख एक उपद्रवी जीव के रूप में किया गया है, जिसकी सृष्टि केवल इस उद्देश्य से हुई थी कि वह सदाचारी मर्त्यों के कार्यों में विघ्न डाले। शिव ने गणेश को विनायकों का नेता बना दिया था और यह विनायक 'क्रूरदृशाः' और 'प्रचण्डाः' कहे गये हैं [7]। 'अग्नि पुराण' में कहा गया है कि गणेश को ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने मानवों को अपने उद्देश्यपूर्ति से वंचित रखने के लिए और साधारण रूप से उनके कार्यों में विघ्न डालने के लिए उत्पन्न किया था [8]। विनायक-ग्रस्त होने के दुष्परिणाम भी बताये गये हैं। सूत्रग्रन्थों में विनायकों का जो वर्णन किया

---

१. कुलार्णव० : २, ४।
२. ,, : २, ५१, ५२।
३. महानिर्वाण० : ५, २०६ और आगे।
४. ,, : ७, १५४ और आगे।
५. ,, : ४, ७९।
६. मत्स्य० : १५४, ५०५।
७. वराह० : २३, २७-२९।
८. अग्नि० : अध्याय २६६।

गया है, यह सब-कुछ उसी के समान है। 'ब्रह्म पुराण' के एक संदर्भ में भी गणेश का यही स्वरूप दिया गया है, जहाँ उनका एक दुष्ट जीव माना गया है जो देवताओं के यज्ञ में विघ्न डालता है [1]। इस प्रकार गणेश का विनायक रूप तो निश्चित हो जाता है। अब 'वराह पुराण' में कहा गया है कि इस 'विनायक' को शिव ने उत्पन्न किया जो साक्षात् रुद्र ही है [2]। अन्य पुराणों में भी गणेश को बहुधा शिव की विशिष्ट उपाधियाँ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ 'अग्नि पुराण' में उनको 'त्रिपुरान्तक' कहा गया है, उनकी भुजाओं में सर्प लिपटे हुए हैं और उनके ललाट पर चन्द्र विराजमान है [3]। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में गणेश को 'ईश' की उपाधि दी गई है और उनको सिद्धों और योगियों का आचार्य कहा गया है [4]। यह भी शिव का ही विशिष्ट कार्य है। इसके विपरीत शिव को भी प्रायः गणेश की विशिष्ट उपाधियाँ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में शिव को 'गजेन्द्रकर्ण', 'लम्बोदर' और दंष्ट्रिन्' कहा गया है [5]। 'ब्रह्म पुराण' में भी गणेश की कुछ उपाधियाँ शिव को दी गई हैं [6]। उपाधियों का यह आदान-प्रदान स्पष्ट रूप से इन दोनों देवताओं के प्रारम्भिक तादात्म्य को सूचित करता है। इसके अतिरिक्त पुराणों में हमें एक और प्रमाण भी मिलता है जिससे शिव और गणेश का प्रारम्भिक तादात्म्य निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है। यजुर्वेद में हमने देखा था कि रुद्र का मूषक के साथ साहचर्य किया गया था और मूषक को उनका विशेष पशु माना जाता था। 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में विधिवत् इस मूषक का शिव को समर्पण किया गया था। परन्तु वैदिक युग के बाद कहीं भी शिव के सम्बन्ध में मूषक का उल्लेख नहीं किया जाता है। साथ ही इसके स्थान पर वृषभ को शिव का विशेष वाहन बताया गया है। पुराणों में इस मूषक का गणेश के साथ उसी प्रकार उल्लेख होता है, जिस प्रकार वैदिक साहित्य में उसका रुद्र के साथ होता था [7]। इससे असंदिग्ध रूप से यह सिद्ध हो जाता है कि स्वयं वैदिक रुद्र को ही एक रूप में विनायक माना जाता था, और इसी रूप में उनको हस्तिमुख भी कल्पित किया जाता था तथा मूषक को उनका विशेष पशु माना जाता था। रुद्र का यही रूप आगे चलकर एक स्वतंत्र देवता के रूप में विकसित हुआ, जो पहले 'विनायक' और बाद में 'गणेश' कहलाया। 'सौर पुराण' में एक स्थल पर स्पष्ट कहा गया है कि गणेश वास्तव में शिव ही हैं [8]। अन्त में पुराण ग्रन्थों में गणेश को शिव का पुत्र माना गया है। यह सम्बन्ध भी उनका प्रारम्भिक तादात्म्य के पक्ष में ही जाता है; क्योंकि देवकथाओं में इस प्रकार के सम्बन्ध बड़ी सुगमता

---

१. ब्रह्मा० : ४०, १२६; ११४, ४ और आगे।
२. वराह० : २३, १४ और आगे (साक्षाद् रुद्र इवापरः)।
३. अग्नि० : ३४८, २६।
४. ब्रह्मवै० : भाग ३, १३, ४१ और आगे।
५. वायु० : २४, १४७; ३०, १८३।
६. ब्रह्म० : ४०, १५।
७. ,, : १११, १५ इत्यादि।
८. सौर० : ४३, ४८।

से स्थापित हो जाते हैं। सूत्रग्रन्थों में हमने देखा ही था कि 'भव' और 'शर्व' तक को, जो प्रारम्भ में रुद्र के ही दो नाम थे, शिव का पुत्र माना जाने लगा था।

पुराणों में शिव और गणेश के प्रारम्भिक तादात्म्य के संकेत तो अवश्य मिलते हैं; परन्तु उसका यह अर्थ नहीं है कि इस तादात्म्य का ज्ञान लोगों को उस समय भी था। पौराणिक युग तक गणेश ने पूर्ण रूप से एक स्वतंत्र देवता का रूप धारण कर लिया था तथा उनको शिव और पार्वती का पुत्र माना जाता था। 'स्कन्द' के अनुसार ही शिव और गणेश के भी पिता-पुत्र सम्बन्ध का समाधान करने के लिए पौराणिक कथाकारों ने कथा-निर्माण के साधन को अपनाया था और इस प्रसंग को लेकर अनेक कथाएँ प्रचलित हो गई थीं। उपलब्ध पुराण ग्रन्थों में बहुत-सी कथाएँ पाई जाती हैं। 'मत्स्य पुराण' की कथा के अनुसार एक बार पार्वती ने जिस चूर्ण से अपने शरीर को मला था, उसका एक खिलौना बनाया, जिसका सिर हाथी के सिर-जैसा था। इस खिलौने को जब उन्होंने गंगा के जल में डुबोया, तब वह प्राणवान् हो गया और पार्वती तथा गंगा दोनों ने उसे अपना पुत्र माना। बाद में ब्रह्मा ने उसको विनायकों का नेता बना दिया[1]। 'वराह पुराण' में कथा इस प्रकार है कि जब पृथ्वी पर सब मानव पूर्ण सदाचारी हो गये और नरक खाली हो गया तथा यमराज को कोई काम करने को न रहा, तब देवताओं के अनुरोध पर भगवान् शिव ने गणेश को इसलिए उत्पन्न किया कि वह इन मानवों के कार्यों में विघ्न डाले[2]। शिव ने उसे अपना ही रूप दिया; परन्तु जब पार्वती उसे अतिशय स्नेह-भरी दृष्टि से देखने लगीं, तब शिव को ईर्ष्या हुई और उन्होंने इस नवजात देवता का शाप दे दिया कि वह हस्तिशिरः का सिर, लम्बोदर और अन्य अंगविकार वाला हो जाय। इसके विपरीत 'लिंग पुराण'[3] में कहा गया है कि जब देवताओं ने भगवान् शिव से प्रार्थना की कि वह कोई ऐसा जीव उत्पन्न करें जो सब विघ्नों का नाश करनेवाला हो, तो शिव ने स्वयं गणेश के रूप में जन्म लिया।

अन्य पुराणों में जो कथाएं दी गई हैं, वे कुछ भिन्न हैं और संभवतः कुछ बाद की भी हैं। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में विष्णु शिव को वचन देते हैं कि उनके पार्वती से एक पुत्र होगा जो सब विघ्नों का नाश करनेवाला होगा[4]। तदनन्तर एक बूढ़े ब्राह्मण का रूप धर और शिव के आवास पर पहुँचकर विष्णु ने शिव तथा पार्वती के सहवास को भंग किया। फिर स्वयं एक शिशु का रूप धर पार्वती की शय्या पर लेट गये, जहाँ पार्वती ने उन्हें पाया और अपना पुत्र कहकर उनका सहर्ष स्वागत किया। आगे चलकर कथा में कहा गया है कि जब पार्वती के निरन्तर अनुरोध पर शनि ने गणेश की ओर देखा, तब गणेश का सिर धड़ से अलग होकर गिर पड़ा। इसपर विष्णु ने एक हाथी का सिर मँगाकर उसके स्थान पर जोड़ दिया। इस कथा में गणेश को विष्णु का अवतार माना गया है और स्पष्ट ही इस कथा की उत्पत्ति वैष्णव प्रभाव के अन्तर्गत हुई है।

---

१. मत्स्य० : १५४, ५०१ और आगे।
२. वराह० : अध्याय २३।
३. लिंग० : भाग १, १०४-१०५।
४. ब्रह्म० : भाग ३, अध्याय ७-९।

सबकुछ देखते हुए पुराणों में गणेश के स्वरूप को काफी स्तुत्य बना दिया गया है। शिव और पार्वती के स्वरूप में भी इसी प्रकार सुधार किया गया था। गणेश के स्वरूप को तत्कालीन ब्राह्मण धर्म के अनुकूल बनाया गया। प्रारम्भ में उनकी उपासना इसलिए होती थी कि वह मनुष्य के कार्यों में बाधा न डालें। इसके बाद उनको विघ्नों का देवता माना जाने लगा और विघ्न नाश के लिए उनकी पूजा की जाने लगी। इस स्थिति से एक कदम आगे चलकर गणेश का विघ्ननाशक देवता के रूप में कल्पना किया जाना एक स्वाभाविक बात थी। इस प्रकार गणेश, जो प्रारम्भ में एक उपद्रवी और अहितकारी देवता थे, अब एक कल्याणकारी देवता हो गये तथा प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में निर्विघ्न पूर्ति के लिए उनकी पूजा होने लगी[१]। उनकी पूजा की विशेष तिथि माघ मास में शुक्लपक्ष को चतुर्थी थी। इस दिन की पूजा का वर्णन 'अग्नि-पुराण' में किया गया है[२]। उनको जो उपहार दिये जाते थे, उनमें 'उल्कान्त' और विविध प्रकार के मिष्टान्न तथा धूप आदि होते थे। मिष्टान्न उनका प्रिय उपहार था। 'अग्नि-पुराण' में उनकी साधारण उपासना-विधि का भी विवरण दिया गया है[३]। एक 'मण्डल' का निर्माण किया जाता था जिसे 'विघ्नमर्दन' अथवा 'विघ्नसूदन' कहा जाता था और इसके बीच भाग में गणेश की मूर्ति की स्थापना की जाती थी। इससे अगले अध्याय में जो सम्भवतः बाद का है, गणेश का एक विशेष मंत्र भी दिया गया है जो उनकी पूजा करते समय जपा जाता था और जिसके साथ ही उन्हें उपहार भेंट किये जाते थे।

कालान्तर में गणेश की उपासना का भी एक स्वतंत्र मत बन गया। इस मत के अनुयायियों का भी शैवों और वैष्णवों के समान एक सम्प्रदाय बन गया। इन्हीं की तरह ये भी अपने आराध्यदेव गणेश को सर्वश्रेष्ठ देवता मानते थे। यह लोग 'गाणपत्य' कहलाने लगे और इन्होंने अपने एक अलग पुराण का भी निर्माण कर लिया जो 'गणेश पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुराण के अनुसार गणेश ही विश्व के स्रष्टा, धर्ता और संहर्ता हैं[४]। वह महाविष्णु हैं, सदाशिव हैं, महाशक्ति हैं और महाब्रह्म हैं[५]। केवल वही चिन्तन, जिससे इस एक गणेश के इन विभिन्न रूपों की सारभूत एकता की अनुभूति होती है, सच्चा योग है[६]। आगे चल कर कहा गया है कि जिस प्रकार विष्णु अवतार लेते हैं, उसी प्रकार गणेश भी बारम्बार लोक-कल्याण के लिए अवतार लेते हैं। विष्णु, शिव और अन्य सब देवता गणेश से ही प्रादुर्भूत होते हैं और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाते हैं[७]। एक श्लोक में साम्प्रदायिक पक्षपात की झलक भी

---

१. अग्नि० : ३१८, ८ और आगे।
२. ,, : अध्याय १७९।
३. ,, : अध्याय ३१३।
४. गणेश० : १, २०-२८।
५. ,, : १, २०-२८।
६. ,, : १, २०।
७. ,, : ३, ७।

मिलती है, और कहा गया है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव के उपासकों का तो मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी पतन हो सकता है; परन्तु गणेश के सच्चे भक्तों को ऐसा कोई भय नहीं है[1]।

पौराणिक युग में शैव मत के सम्बन्ध में अन्तिम बात जो हमें देखनी है, वह है—शैव देवकथाएँ जिनका इस समय तक पूर्ण विकास हो चुका था। रामायण-महाभारत में जो कथाएँ हैं, वह पुराणों में अधिक विस्तृत रूप से दी गई हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि कहीं-कहीं कथा का वास्तविक अर्थ ही लुप्त हो गया है। अनेक नई कथाओं का भी प्रादुर्भाव हो गया था और शिव तथा पार्वती के विविध रूपों को लेकर अनगिनत छोटे-छोटे किस्से भी प्रचलित हो गये थे। इन सबके साथ यदि हम उन कथाओं को भी जोड़ दें, जिनका सम्बन्ध गणेश से था, तो शैव मत सम्बन्धी देवकथाओं का एक बहुत बड़ा भण्डार हो जाता है। इन सबका विस्तृत विवेचन एक स्वतंत्र ग्रन्थ के लिए एक अच्छा विषय बन सकता है। यहाँ हम कुछ प्रमुख कथाओं को लेकर ही यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनमें शैवमत के स्वरूप और इतिहास के विषय में हमें क्या सामग्री मिलती है? रामायण-महाभारतवाली कथाओं का क्रम रखते हुए, हम पहले स्कन्द-जन्म की कथा को लेते हैं। यह तो हम देख ही चुके हैं कि कार्त्तिकेय अथवा स्कन्द को रामायण-महाभारत के काल में ही शिव का पुत्र माना जाने लगा था। प्रारम्भ में स्कन्द के पिता अग्नि थे, इस बात की स्मृति पुराणों तक बिलकुल लुप्त हो गई थी। एक-दो स्थानों पर इसका एक हलका-सा संकेत मिलता तो है[2]; परन्तु जहाँ तक स्कन्द-जन्म की कथा का सम्बन्ध है, उसमें शिव को ही स्कन्द का जनक माना गया है। यह कथा अब एक बड़ी कथा का भाग बन गई है, जिसमें 'दक्षयज्ञ-विध्वंस', 'शिवपार्वती-परिणय' और 'मदनदहन' की कथाए भी सम्मिलित हैं। इस कथा के विभिन्न रूप भी हो गये हैं, जिनको दो श्रेणियां में बाँटा जा सकता है। पहली श्रेणी में कथा का प्रारम्भ देवताओं का अपनी सेनाओं के लिए एक सेनापति की खोज करने से होता है। महाभारत में स्कन्द-जन्म की कथा का जो मूल रूप मिलता है, उसका प्रारम्भ भी इसी प्रकार होता है। इस रूप में यह कथा 'वराह पुराण' में दी गई है[3]। जब देवताओं को दानवों ने बार-बार पराजित किया, तब उन्होंने एक नया सेनापति ढूँढने का संकल्प किया और ब्रह्मा के परामर्श से वे शिव के पास गये। यहाँ तक तो यह कथा महाभारत की कथा के अनुसार ही है; परन्तु इसके आगे वह एक नई दिशा में चलती है। शिव ने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली और तत्काल अपनी शक्ति को संक्षुब्ध करके उससे एक देदीप्यमान देवता प्रादुर्भूत किया, जो अपने विशेष अस्त्र (शक्ति) को हाथ में धारण किये प्रकट हुआ। यह कथा स्पष्ट ही बाद की है और इसमें अग्नि की कहीं भी चर्चा नहीं है। दूसरी श्रेणी की कथाओं का प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि शिव और पार्वती जब दीर्घकाल तक सहवास में लीन रहे, तब देवतागण घबरा उठे।

---

१. गणेश० : ६, ११।

२. मत्स्य० : ५, २६।

३. वराह० : २५, ५२ और आगे।

महाभारत में इस कथा का जो रूप है, उसके निकटतम सौर पुराण की कथा है[1]। इसमें कहा गया है कि विवाहोपरान्त शिव-पार्वती के इस दीर्घकालीन सहवास से समस्त विश्व में अव्यवस्था फैल गई। इससे देवतागण संत्रस्त हो गये, और विशेष कर तब जब नारद ने उन्हें बताया कि ऐसे बलशाली माता-पिता की सन्तान समस्त देवमण्डल से अधिक शक्तिशाली होगी। विष्णु ने भी देवताओं को यही चेतावनी दी। इसपर देवताओं ने पहले अग्नि को शिव-पार्वती के सहवास को भंग करने के लिए भेजा। परन्तु पार्वती के सिंह को देखते ही अग्निदेवता जब भयभीत होकर भाग खड़े हुए, तब सब देवता मिल कर शिव के पास गये और उनसे अनुनय किया कि वह पार्वती से कोई सन्तान उत्पन्न न करें। शिव मान गये; परन्तु अपने वीर्य के लिए कोई उपयुक्त पात्र माँगा। देवताओं ने अग्नि को ही दिया। इससे आगे की कथा स्वयं शिवजी पार्वती से बताते हैं कि जब अग्नि उनके वीर्य को धारण नहीं कर सके, तब उन्होंने उसे गंगा में फेंक दिया। उसको सहन न कर सकने पर गंगा ने भी उसे कृत्तिकाओं को दे दिया, जिन्होंने उसे शरवण में रख दिया और वहीं स्कन्द का जन्म हुआ। इसपर पार्वती देवताओं को शाश्वत रूप से निःसन्तान रहने का शाप देती हैं और यहीं कथा का अन्त होता है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में भी कथा लगभग इसी प्रकार है, यद्यपि उसके दो भाग कर दिये गये हैं और दो विभिन्न स्थलों पर दिये हैं[2]। इसमें थोड़ा-सा वैष्णव प्रभाव भी दिखाई पड़ता है; क्योंकि यहाँ देवता पहले विष्णु के पास जाते हैं जो उन्हें शिव के पास जाने को कहते हैं। अन्य पुराणों में कथा कुछ अधिक बदल जाती है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में कहा गया है[3] कि शिव-पार्वती के दीर्घकाल तक सहवास करते रहने से इन्द्र के मन में भय उत्पन्न हुआ, और उन्होंने अग्नि को उसमें विघ्न डालने के लिए भेजा। अग्नि गये और शिव का वीर्य धरती पर गिर पड़ा। इसपर पार्वती प्रकुपित हो गईं और दण्ड-स्वरूप अग्नि को उस बीज के धारण करने पर बाध्य किया। इसके बाद अग्नि ने उसे गंगा को दिया और गंगा ने उसे शरवण में डाल दिया, जहाँ स्कन्द का जन्म हुआ तथा कृत्तिकाओं ने उसे पाला। ब्रह्माण्ड पुराण में भी लगभग इन्हीं शब्दों में यह कथा कही गई है[4]। परन्तु 'मत्स्य पुराण' में इस कथा का कुछ भिन्न रूप है[5]। देवताओं ने भयभीत हो अग्नि को शिव-पार्वती के शयनागार में भेजा जहाँ वह एक शुक का रूप धारण करके गये। परन्तु शिव ने उन्हें पहचान लिया, और क्रोध में अपना वीर्य उस शुक में डाल दिया। इस पर अग्नि का शुक-शरीर फट गया और शिव का तेज हैम की धारा के समान प्रखर उज्ज्वल वह निकला, और उससे कैलास पर्वत पर एक सरोवर बन गया। इस सरोवर पर स्नान करने कृत्तिकाएँ आईं और जैसे ही उन्होंने पीने के लिए कुछ बूँदें एक कमलदल पर उठाईं कि पार्वती ने उनको देख लिया और अपने पास बुलाया। उन्होंने पार्वती को एक पुत्र देने का

---

१. सौर० : ६०-६२।
२. ब्रह्मवै० : भाग ३, अध्याय १०२; भाग ३, अध्याय १४।
३. वायु० : ७२, २० और आगे।
४. ब्रह्मा० : भाग २, अध्याय ४०।
५. मत्स्य० : १५८, २६ और आगे।

इस शर्त पर वचन दिया कि वह उसका नाम उनके नाम पर रखेंगी। पार्वती ने यह स्वीकार किया और उन जल-बिन्दुओं को वे पी गईं। कुछ देर बाद उनके कक्ष से एक बालक उत्पन्न हुआ, जो षण्मुख था और शक्ति धारण किये हुए था। इस प्रकार इस कथा में शिव और पार्वती को स्कन्द का वास्तविक पिता बताया गया है। अतः स्पष्ट है कि इस समय तक अग्नि के स्कन्द का पिता होने की स्मृति सर्वथा लुप्त हो चुकी थी। यह कथा अपने विकास की अन्तिम अवस्था में 'ब्रह्म पुराण' में मिलती है[1]। इसमें उपर्युक्त दो श्रेणियों का सम्मिश्रण हो गया है। शिव पार्वती के दीर्घकालीन सहवास से देवताओं के संत्रास का विवरण उनके एक नये सेनापति की खोज करने के साथ मिला दिया गया है; परन्तु ऐसा करने में कथा में काफी अदल-बदल भी कर दी गई है। यहाँ कहा गया है कि यह जान कर कि शिव की सन्तान ही देवसेनाओं के लिए उपयुक्त सेनापति हो सकती है, उन्होंने शिव और पार्वती का विवाह कराया। विवाह के उपरान्त अति दीर्घकाल तक शिव और पार्वती सहवास करते रहे; परन्तु कोई सन्तान उत्पन्न नहीं की और इस बीच में तारक नाम के दानव का आतंक बराबर बढ़ता ही गया। यही कारण था जिससे देवगण संत्रस्त हो उठे, और उन्होंने अग्नि को शिव के पास उन्हें देवताओं की इच्छा से अवगत कराने के लिए भेजा। अग्नि शुक का रूप धारण कर शिव और पार्वती के शयनागार में पहुँचे। परन्तु शिव ने उन्हें तुरन्त पहचान लिया और अपना बीज उनमें डाल दिया। अग्नि उसको सहन न कर सके और गंगा तट पर उसे कृत्तिकाओं को दे दिया। वहीं स्कन्द का जन्म हुआ। पौराणिक समय में यही इस कथा का प्रामाणिक रूप माना जाता था, और जैसा हम ऊपर देख आये हैं, कालिदास ने भी कथा के इसी रूप को अपने 'कुमार-सम्भव' काव्य का आधार बनाया था।

अगली कथा 'त्रिपुरदाह' की है। जैसा कि रामायण-महाभारत में था, वैसे ही पुराण-काल में भी इसको भगवान शिव का सबसे बड़ा कार्य माना जाता था। एक बृहत् महाकाव्य के लिए यह एक अत्यन्य उपयुक्त विषय है, अतः यह कुछ अचम्भे की बात है कि इसका इस रूप में संस्कृत के किसी महाकवि ने प्रयोग नहीं किया; यद्यपि इन्होंने अपनी कृतियों के कथानकों के लिए समस्त रामायण-महाभारत और पुराणों को छान मारा है। पुराणों में यह कथा सबसे बड़ी है और महाभारत में जो इसका रूप था, उससे बहुत आगे बढ़ गई है। जिसने इस कथा के इतिहास का अध्ययन नहीं किया है, उसके लिए यह विश्वास करना कठिन है कि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों की एक अस्पष्ट देवकथा से इस बृहदाकार कथा का विकास हुआ है। अन्य कथाओं के समान इस कथा के भी विभिन्न रूप हो गये हैं। 'सौर पुराण' में जो कथा दी गई है, वह महाभारत की कथा के सबसे अधिक निकट है[2]। तारकासुर के तीन पुत्रों ने ब्रह्मा से वरदान के रूप में तीन नगर प्राप्त किये थे। इन तीनों को एक ही बाण से भेदनेवाले के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उन्हें जीत नहीं सकता था। तदनन्तर महाभारत में तो कहा गया है कि दानवों ने महान् उपद्रव मचाना शुरू कर दिया।

---

१. ब्रह्म० : अध्याय १२८।

२. सौर० : अध्याय ३४ और आगे।

परन्तु यहाँ यह भी कहा गया है कि उन्होंने इन नगरों में ऐसे लोगों को बसाया जो पूर्ण रूप से सदाचारी थे, जो वेदाध्ययन करते थे, शिव की उपासना करते थे और अन्य सब प्रकार से आदर्श जीवन बिताते थे। यह इन्हीं लोगों के सदाचार का पुण्य था कि दानव अजेय हो गये, और उनके मुकाबले में देवता तेजहीन हो गये। अपना पद खो देने और दानवों द्वारा अभिभूत हो जाने के डर से देवता पहले विष्णु के पास गये, फिर शिव के तथा सम्भवतः शिव की अनुमति से विष्णु ने नारद को एक 'मायी' का रूप धरकर दानवों के नगरों में भेजा कि वह वहाँ के लोगों को पथभ्रष्ट करें और इस प्रकार उनके पुण्य का ह्रास हो जाय। विष्णु और नारद इस प्रयास में सफल हुए और तब शिव ने उन नगरों पर चढ़ाई की। जिस रथ पर शिव चढ़े, उसका महाभारत की कथा के समान ही, विस्तृत वर्णन किया गया है। शिव के वहाँ पहुँचने पर तीनों नगर एक स्थान पर आ गये और शिव ने एक ही बाण से तीनों को भेदकर उनका ध्वंस किया। 'लिंग पुराण' में इसी कथा का एक संक्षिप्त संस्करण दिया गया है[1]। यहाँ यह बात स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होती है कि इस कथा से यह उपदेश दिया गया है कि सदाचार का कितना पुण्य होता है और उसमें कितनी शक्ति है तथा आचार-भ्रष्ट होने का कितना भीषण परिणाम होता है। शिव की महिमा का गान तो यह कथा करती ही है, और इस उद्देश्य से इसमें अनेक अदल-बदल भी किये गये हैं। परन्तु छल से दानवों का विनाश किया जाना—फिर ऐसे दानवों का जो कम-से-कम सच्चे शिव-भक्त तो थे ही—और स्वयं शिव का उनके नगरों को ध्वंस करना, ये बातें तत्कालीन शैवों को अप्रिय लगती होंगी। अतः इस कथा में फिर परिवर्तन किया गया और इसका यह दोष निकाल दिया गया। कथा का यह परिवर्तित रूप 'मत्स्य पुराण' में मिलता है[2]। यहाँ दानवों का नेता 'मयदानव' अथवा 'बाणासुर' है, जो स्वयं शिव भक्त था, और उसकी सारी प्रजा भी शिव की उपासना करती थी। परन्तु कालान्तर में ये दानव अभिमानी और उद्दण्ड हो गये तथा इस कारण उनका उचित दण्डविधान करने के हेतु शिव ने नारद को, उनके चरित्र की परीक्षा लेने के लिए भेजा। इस परीक्षा में दानव सफल न हो सके। नारद के छल में आकर उन्होंने कुमार्ग पर चलना आरम्भ कर दिया और इस प्रकार अपनी अजेयता खो बैठे तथा उपद्रवी बन गये। ऐसी स्थिति आ जाने पर ही शिव ने उनके विरुद्ध चढ़ाई की। जब बाणासुर को यह ज्ञात हुआ कि स्वयं भगवान् शिव दानवों को दण्ड देने के लिए आये हैं, तब वह 'शिवलिंग' को अपने मस्तक पर रखकर, और शिव की महिमा का गान करता हुआ अपने नगर से बाहर निकल आया। उसकी प्रजा जिस दण्ड की अधिकारिणी बनी थी, वह सारा दण्ड अपने ऊपर लेने को तैयार हो गया। केवल उसकी एक ही प्रार्थना थी कि भगवान् शिव में उसकी भक्ति अक्षुण्ण रहे। बाणासुर की इस अद्भुत भक्ति का परिचय मिलने पर और उसकी प्रजावत्सलता से शिव अति प्रसन्न हुए और बाणासुर को अनेक वरदान ही नहीं दिये, अपितु उसके तीसरे नगर को विध्वस्त करने का संकल्प भी छोड़ दिया। शेष दो

---

१. लिंग० : भाग १, अध्याय ७२।

२. मत्स्य० : अध्याय १२९-३२; अध्याय १८८।

नगरों को उन्होंने पृथ्वी की ओर ढकेल दिया, जहाँ एक कैलास पर्वत के निकट और दूसरा अमरकण्टक पर जा गिरा।

तीसरी कथा दक्ष-यज्ञ की है। पुराणों में इसके विभिन्न संस्करण मिलते हैं, और इनसे इस कथा के वास्तविक अर्थ समझने में हमें बड़ी सहायता मिलती है। इस कथा का सबसे पुराना रूप सम्भवतः 'वराह पुराण' में है, और इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इससे शिव के प्रति जो विरोध प्रारम्भ में था और शिव की उपासना को जिस अनादर से देखा जाता था, वह साफ झलकता है। पुराणों के समय तक इसमें, शिव के पक्ष में, काफी हेर-फेर कर दी गई थी और लगभग सभी अन्य पुराणों में दक्ष-यज्ञ के विध्वंस का सारा दोष दक्ष के माथे मढ़ा गया है। कथा के इन सब संस्करणों में ठीक-ठीक काल-भेद करना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इनमें साम्प्रदायिकता का पुट जितनी मात्रा में पाया जाता है, उससे मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि इनमें से कौन-सी कथा अपेक्षाकृत प्राचीन अथवा नवीन है। 'वायु पुराण' की कथा के अनुसार[1] दक्ष ने एक यज्ञ प्रारम्भ किया जिसमें उन्होंने शिव को नहीं बुलाया। इसपर 'दधीचि' ऋषि कुपित हो गये और दक्ष से शिव को आमंत्रित न करने का कारण पूछा। इसपर दक्ष ने उत्तर दिया कि वह ग्यारह रुद्रों को छोड़ कर और किसी रुद्र को नहीं जानते और वह यज्ञ का सारा सम्मान विष्णु को देंगे, जो यज्ञ के पति हैं। इसी बीच दक्ष-पुत्री सती ने, जो शिव को ब्याही गई थीं, स्वयं भगवान् से उनके न बुलाये जाने का कारण पूछा। इसपर भगवान् शिव ने उत्तर दिया कि देवताओं में तो यह प्राचीन प्रथा थी कि वे यज्ञ में उन्हें कोई भाग नहीं देते थे और वह स्वयं इस स्थिति से संतुष्ट थे। इस प्रकार यहाँ इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि दीर्घकाल तक शिव का उपासना को कोई मान्यता नहीं दी जाती थी। आगे चलकर कथा में कहा गया है कि सती के अनुरोध करने पर शिव अपना अधिकार पाने के लिए कुछ प्रयास करने के लिए राजी हुए। दक्ष को दण्ड देने के लिए उन्होंने एक भयंकर जीव—वीरभद्र की सृष्टि की। उधर सती के क्रोध से भद्रकाली की सृष्टि हुई, जो वीरभद्र के सहायतार्थ उसके साथ गई। शिव के रन्ध्रों से अनेक 'रुद्र' भी उत्पन्न हो गये और वे वीरभद्र के अनुचर बने। इस प्रकार दलसहित वीरभद्र यज्ञस्थल पर पहुँचा और जाते ही वहाँ सब को तितर-बितर कर दिया। उसने यज्ञ का विध्वंस किया और देवताओं को बन्दी बना लिया। उनके दयायाचना करने पर वीरभद्र ने उनसे शिव को प्रसन्न करने के लिए कहा। अन्त में स्वयं दक्ष ने शिव की आराधना की और तदनन्तर वह परम शिव-भक्त हो गये। सौर और ब्रह्म पुराणों में बिलकुल इन्हीं शब्दों में यह कथा कही गई है[2]। 'लिंग पुराण' में इसको कुछ संक्षेप से कहा गया है[3]। अन्य संस्करणों में यज्ञविध्वंस स्वयं भगवान् शिव करते हैं। इसका कारण यह बताया गया

---

१. वायु० : ३०, ८१ और आगे।

२. सौर० : ७, १० और आगे; ब्रह्म० ३९.४०.

३. लिंग० : भाग १, अध्याय १००।

है कि दक्ष द्वारा शिव का अनादर सती को असह्य हुआ और उन्होंने यज्ञाग्नि में कूद कर अपने प्राण त्याग दिये। इस रूप में यह कथा 'ब्रह्मपुराण' के एक अन्य अध्याय में भी दी गई है[1]। यहाँ कथा इस प्रकार है कि दक्ष ने जब भगवान् शिव को अपने यज्ञ में नहीं बुलाया, तब उनकी बड़ी पुत्री सती ने इसका कारण पूछा। दक्ष ने कहा कि वह शिव के शत्रु हैं; क्योंकि किसी पूर्व अवसर पर शिव ने उनका यथोचित सम्मान नहीं किया था और वह उनके अन्य जामाताओं की बराबरी करना चाहते थे, जोकि सबके सब प्राचीन विधियों को माननेवाले महर्षि थे। दक्ष के इस कथन से पता चलता है कि शिव की उपासना को परम्परा के विरुद्ध और प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के प्रतिकूल माना जाता था। सती अपने पति के इस घोर अपमान को सहन न कर सकीं और इस अन्तिम प्रार्थना के साथ कि अगले जन्म में भी उनके पति शिव ही हों, अग्नि में कूद पड़ी। इस दुर्घटना की सूचना जब शिव को मिली तब वह क्रोध से भर गये। उन्होंने यज्ञस्थल पर पहुँचकर दक्षयज्ञ का विध्वंस किया और दक्ष तथा अन्य उपस्थित देवताओं तथा ऋषियों को शाप दे दिया। इस पर दक्ष ने भी शिव को प्रतिशाप दिया। अन्त में ब्रह्मा ने दोनों को शान्त किया और दक्ष ने भगवान् शिव का उचित सम्मान कर उन्हें श्रेष्ठदेव माना। इस रूप में यह कथा लगभग इन्हीं शब्दों में 'ब्रह्माण्ड पुराण' में दुहराई गई है[2]। स्वयं 'ब्रह्मपुराण' में भी यह एक बार और दी गई है[3]। यहाँ केवल इतना अन्तर कर दिया गया है कि यज्ञ-विध्वंस होने के उपरान्त उपस्थित देवताओं ने विष्णु से साहाय्य याचना की और विष्णु ने अपने चक्र से शिव पर आक्रमण किया। परन्तु शिव उस चक्र को ही निगल गये और देवतागण पूर्णरूप से परास्त हुए। अन्त में दक्ष ने शिव की स्तुति की और विष्णु ने भी उनकी आराधना की तथा अपना चक्र वापस पाया। कथा के इस रूप-निर्माण में स्पष्ट ही शैव-सम्प्रदाय के किसी अनुयायी का हाथ है।

भगवान् शिव के सम्बन्ध में जो अन्य कथाएँ रामायण-महाभारत काल में प्रचलित थीं, वे भी पुराणों में अधिक विस्तृत रूप में दी गई हैं। शिव के विषपान की कथा सब आवश्यक अंशों में रामायण-महाभारत की कथा के समान ही है और सब पुराणों में उसका लगभग एक ही रूप है[4]। शिव की ग्रीवा का वर्णपरिवर्तन हालाहल के गुजरने के कारण ही हुआ बताया गया है। उसका नीलवर्ण देवताओं को इतना प्रिय लगा कि उन्होंने शिव से प्रार्थना की, वह उस विष को वहीं रख लें। शिव ने ऐसा ही किया और इस प्रकार वह 'नीलकण्ठ' हो गये। 'मत्स्य पुराण' में यह कथा कुछ बदल कर कही गई है। यहाँ सागर-मन्थन का कारण यह बतलाया गया है कि शिव ने असुरों के आचार्य शुक्र को 'संजीवनी' बूटी दे रखी था। उस संजीवनी से युद्ध में मारे गये दानव फिर जीवित हो

---

१. ब्रह्म० : अध्याय ३४।
२. ब्रह्माण्ड० : भाग १, अध्याय १३।
३. ब्रह्म० : अध्याय १०९।
४. वायु० : ५०, ४९ और आगे। ब्रह्माण्ड० भाग १, अध्याय २५। मत्स्य० अध्याय २४ इत्यादि।

उठते थे[1]। कथा में एक और परिवर्तन यह किया गया है कि सागर से हालाहल को सबसे पहिले निकला हुआ पदार्थ नहीं बताया गया है। कहा गया है कि जब सोम, श्री, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभ और पारिजात सागर से निकल आये, तब उनके बाद सागर के और मथा जाने के कारण उसमें से हालाहल निकला। इसे यहाँ 'कालकूट' कहा गया है, और यहाँ इसका मानवीकरण भी हो गया है; क्योंकि इस कालकूट के परामर्श से ही देवताओं ने शिव से इसे ग्रहण करने की प्रार्थना की थी।

इसके बाद मदन-दहन की कथा है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यह अब एक वृहद्कथा का अंग बन गई थी। इसका भी सब पुराणों में लगभग एक-सा ही रूप है[2]। ब्रह्मा के आदेश से देवताओं ने शिव का पार्वती से, जो पिछले जन्म की सती थीं, विवाह कराने का प्रयास आरम्भ किया, ताकि इनसे जो सन्तान हो, वह उनकी सेनाओं का नेतृत्व कर सके। पार्वती भी शिव को फिर वर रूप में पाने के उद्देश्य से तपस्या कर रही थीं। देवताओं ने कामदेव को, शिव का ध्यान च्युत करने और पार्वती के प्रति उनमें अनुराग पैदा करने के लिए भेजा। परन्तु जैसे ही कामदेव ने अपना बाण संजित किया, वैसे ही भगवान् शिव ने अपने चित्त को किंचित् विक्षुब्ध जान अपने नेत्र खोले और सामने कामदेव को देखकर क्रोध से भर गये। उसी क्षण उनके तृतीय नेत्र से एक ज्वाला निकली, जिसने काम को वहीं भस्म कर दिया। बाद में पार्वती के अनुनय से अथवा, जैसा कि कुछ पुराणों में दिया गया है, विरहव्यथिता कामपत्नी रति पर दया करके, शिव ने काम को फिर जीवित कर दिया; परन्तु अंग का रूप उसे नहीं मिला। तभी से काम 'अनंग' कहलाता है।

'अन्धक'-वध की कथा में, शिव का क्रूर रूप दृष्टिगोचर होता है[3]। इस कथा में सबसे बड़ा विकास यह हुआ है कि अब शिव का मातृकाओं से साहचर्य किया गया है; जो सम्भवतः स्थानीय स्त्री-देवताएँ थीं। 'अन्धक' के वध का कारण उसका देवताओं से द्रोह ही नहीं था, अपितु यह भी था कि उसने एक बार स्वयं पार्वती को हर ले जाने की चेष्टा की थी। जब युद्ध आरम्भ हुआ तब अन्धक के शरीर से रक्त की गिरी प्रत्येक बूँद एक नया अन्धक बन जाती थी। इस प्रकार अन्धकों की एक सेना तैयार हो गई, जिससे देवताओं की सेना संकट में पड़ गई। इसका प्रतिरोध करने के लिए शिव ने माहेश्वरी देवी की सृष्टि की और साथ ही अनेक छोटी-मोटी देवियों को उत्पन्न किया, जो अन्धक के रक्त को पृथ्वी पर गिरने से पहले ही चाट लेती थीं। इसके बाद शिव ने सहज में ही अन्धक का वध कर दिया।

नई कथाओं में सबमें महत्त्वपूर्ण वह कथा है, जिसमें शिव-लिंग की उत्पत्ति कैसे हुई, यह बताया गया है। लिंगोपासना के प्रारम्भिक स्वरूप तो रामायण-महाभारत के

---

१. मत्स्य० : अध्याय २४९-२५०।

२. मत्स्य० : १५४, २४७ और आगे; सौर० अध्याय १५३; ब्रह्म० अध्याय ७१ इत्यादि।

३. मत्स्य० : १७९, २ और आगे; वराह० : अध्याय २७; सौर० : अध्याय २९।

समय में ही लुप्त हो गया था। पुराणों के काल तक 'लिंग' शिव का सर्वमान्य और सम्मानित प्रतीक बन गया था तथा उसकी उपासना दीर्घकाल से स्थापित हो चुकी थी। परन्तु, यह शिव-लिंग मूल रूप से जननेन्द्रिय-सम्बन्धी था। इसका ज्ञान पौराणिक युग में भी था; क्योंकि अनेक प्रसंगों में इसको स्पष्ट रूप से शिव की जननेद्रिय कहा गया है। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' में जब शिव विष्णु और ब्रह्मा के समक्ष प्रकट होते हैं, तब उनको 'ऊर्ध्वमेढ्र' अवस्था में बताया गया है[1]। ऋषिपत्नियों की कथा में भी[2] शिव की जननेन्द्रिय की ओर फिर ध्यान आकृष्ट किया गया है और स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह शिव की जननेन्द्रिय ही थी, जिसकी लिंग रूप में उपासना होती थी। इसी कारण लिंगोत्पत्ति की कथा में इसकी उपासना का समाधान अन्य उपायों से किया गया है और शिवलिंग के जननेन्द्रिय सम्बन्ध को लुप्त करने की चेष्टा की गई है। प्रसंगवश इसी कथा द्वारा शिव को विष्णु और ब्रह्मा से बड़ा सिद्ध करने का भी प्रयास किया गया है। यह कथा भी अपने आवश्यक अंशों में सब पुराणों में लगभग एक-सी ही है। परन्तु विस्तार की बातों में काफी विभिन्नता भी पाई जाती है[3]। एक बार ब्रह्मा और विष्णु में यह विवाद खड़ा हो गया कि उनमें से कौन सर्वश्रेष्ठ है? उस समय भगवान शिव एक लिंगाकार अग्निस्तम्भ के रूप में उन दोनों के समक्ष प्रकट हुए और उनको इस स्तम्भ की ओर-छोर का पता लगाने को कहा। विष्णु नीचे की ओर गये और ब्रह्मा ऊपर की ओर; परन्तु कोई भी उस स्तम्भ का अन्त न पा सका। अन्त में हार कर दोनों लौट आये। तब उन्होंने भगवान् शिव को ही सर्वश्रेष्ठ माना और उनके 'लिंग' रूप का यथोचित सम्मान किया। इस कथा का जो रूप 'लिंग पुराण' में दिया गया है, उसमें शिव-लिंग का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा को पहुँचता है। इसके अनुसार जो अग्निस्तम्भ विष्णु और ब्रह्मा के सामने प्रकट हुआ था, उसमें से सहस्रों ज्वालाएँ निकल रही थीं, जो प्रलयाग्नि के समान देदीप्यमान थीं। उस अग्निस्तम्भ का न कोई आदि था, न मध्य और न अन्त। जब ब्रह्मा और विष्णु हार कर लौट आये, तब इस लिंगाकार अग्नि-स्तम्भ में एक 'ओम्' का चिह्न प्रकट हुआ और इसका सब देवताओं ने प्रणव के रूप में स्वागत किया। इस प्रकार शिव-लिंग की उपासना का समाधान और समुत्कर्ष किया गया। इस कथा में जिस प्रकार से लिंग की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, उससे लिंग का जननेन्द्रिय-सम्बन्ध बिलकुल ही छिप जाता है। फलस्वरूप पुराणकाल के उपरान्त हम देखते हैं कि लिंग का इस आदि-स्वरूप को लोग बिलकुल ही भूल गये।

पुराणों में पाई जानेवाली अन्य नई कथाओं का प्रासंगिक उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके हैं।

---

१. वायु० : २४, ५६।

२. ब्रह्माण्ड० : भाग १, अध्याय १२७; अध्याय ५५, १०१।

३. वायु० : २४, ३२ और आगे; अध्याय ५५। ब्रह्माण्ड० भाग २, अध्याय २६। सौर० ६६, १८ और आगे। ब्रह्म०. अध्याय १३५। लिंग० अध्याय १७।

पौराणिक साहित्य का निरीक्षण समाप्त करने से पहले हमें जिस बात पर विचार करना है, वह है—शैवमत का अन्य मतों के साथ सम्बन्ध। 'पुराण ग्रन्थों' की रचना के साथ भारतीय धर्मों के इतिहास में उस निर्माणकाल का अन्त होता है, जिसमें—वैदिक कर्मकाण्ड के ह्रास के बाद—वे विभिन्न विचार-धाराएँ, उपासना-विधियाँ और धार्मिक सिद्धान्त प्रचलित हुए थे, जिन्होंने धीरे-धीरे स्पष्ट और संगठित मतों का रूप धारण किया। यह सब मत एक ही समय में, एक ही प्रदेश में और एक ही जाति में साथ-साथ विकसित हो रहे थे। अतः यह स्वाभाविक ही नहीं; परन्तु अवश्यंभावी भी था कि पर्याप्त मात्रा में इनका एक दूसरे के ऊपर पारस्परिक प्रभाव पड़ा हो और इनके आचार-विचारों में भी काफी आदान-प्रदान हुआ हो। इस काल में इन सब मतों का एक विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन वास्तव में अत्यन्त अभीष्ट है; क्योंकि इससे एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हो जायगी, जिससे इस काल के बाद के धार्मिक विकास को समझने में हमें बहुत सहायता मिल सकती है। परन्तु, यहाँ हम इस समस्या का केवल एकांगी अध्ययन ही कर सकते हैं। केवल शैव धर्म को लेकर हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि इस समय में शैवमत का अन्य मतों के प्रति क्या रवैया था और इसका उनपर अथवा उनका इसपर क्या प्रभाव पड़ा? शैव-मत के सबसे निकट जो मत था—वह था वैष्णव मत। ये दोनों एक ही वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म की दो प्रमुख शाखाएँ थीं और इन दोनों का केन्द्रीय सिद्धान्त वही एक भक्तिवाद था। इन दोनों मतों के इस निर्माण-काल में पारस्परिक सम्बन्ध कैसा रहा, इसका कुछ आभास हमें ऊपर मिल चुका है। हमने देखा था कि इन दोनों मतों के अनुयायी अपने-अपने आराध्यदेव को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। हमने यह भी देखा था कि इस एकेश्वरवाद को ग्रहण करने के फलस्वरूप शिव और विष्णु को एक ही ईश्वर के दो नाम माना जाने लगा था। कम-से-कम इन दोनों मतावलम्बियों में जो विवेकशील थे, वे तो ऐसा ही मानते थे। जन-साधारण को भी इस तथ्य का कुछ आभास अवश्य था; क्योंकि इस तथ्य को समझाने के लिए इसका अनेक प्रकार से सुगम और लोकप्रचलित रूप दिया जा रहा था तथा 'त्रिमूर्ति' अथवा शिव और विष्णु की संयुक्त प्रतिमाएँ बना कर इसका मूर्त रूप दिया जा रहा था। सामान्यतः इन दोनों मतों के अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे थे और इसका सबसे बड़ा प्रमाण विष्णु अथवा शिव-सम्बन्धी पुराण ग्रन्थ हैं, जो शिव और विष्णु दोनों का ही माहात्म्यगान करते हैं। वास्तव में यह पुराण-ग्रन्थ उस समय के वैसे साधारण मनुष्यों की धार्मिक मान्यताओं को बड़ी सुन्दरता से प्रतिबिम्बित करते हैं, जो ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, और जो आचारार्थ शैव अथवा वैष्णव मतावलम्बी होने पर भी दूसरे मत के आराध्यदेव का सम्मान करते थे; क्योंकि वे समझते थे कि वह भी वही देवता है जिसकी वह स्वयं एक भिन्न नाम से उपासना करता है।

परन्तु इस तस्वीर का एक दूसरा रुख भी था। हमने ऊपर देखा है कि जब यह प्रश्न उठा कि विष्णु और शिव में से किसको बड़ा माना जाय, तब इन दोनों देवताओं के उपासकों के लिए दो मार्ग खुले थे और उनमें से एक यह था कि वह एक दूसरे के दावों को मानने से साफ इनकार कर देते। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों ही मतों के अनुयायियों में से कुछ

कट्टर-पंथियों ने ऐसा किया भी। इन लोगों के अस्तित्व के चिह्न हमें पुराण-ग्रन्थों के उन भागों में मिलते हैं, जहाँ हम शैव और वैष्णव मतों में सांप्रदायिक भेद के प्रथम संकेत पाते हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्थलों पर एक देवता का दूसरे की अपेक्षा अधिक उत्कर्ष दिखलाया गया है। यह इस साम्प्रदायिक भेद की पहली अवस्था है। शिव के सम्बन्ध में तो लिंगोत्पत्ति की कथा में ही यह भेद झलक जाता है, जहाँ कहा गया है कि विष्णु ने शिव की श्रेष्ठता को माना और उनकी आराधना की। रामायण-महाभारत तक में भी यही बात पाई जाती है; क्योंकि वहाँ भी एक स्थल पर कृष्ण शिव की महिमा का गान करते हैं और उनकी आराधना भी करते हैं। इसके अतिरिक्त पुराण-ग्रन्थों में अनेक संदर्भ भी ऐसे हैं, जिनपर शैव सांप्रदायिकता का प्रभाव है और जिनमें शिव को विष्णु से बड़ा माना गया है। 'सौर पुराण' में कहा गया है कि कृष्ण ने अपना चक्र शिव से पाया था[1]। 'ब्रह्म पुराण' की एक कथा में शिव विष्णु का चक्र निगल जाते हैं और इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण देते हैं[2]। इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि राम ने गोमती नदी के किनारे शिव की पूजा की थी। 'लिंग-पुराण' में अनेक स्थलों पर विष्णु को शिव की पूजा करते हुए अथवा शिव के माहात्म्य का बखान करते हुए बताया गया है[3]। इसके विपरीत वैष्णव पुराण विष्णु को शिव की अपेक्षा बड़ा मानते थे। 'ब्रह्म-वैवर्त' पुराण में कहा गया है कि शिव विष्णु में से ही प्रकट हुए और वे विष्णुभक्त थे[4]। एक अन्य अध्याय में शिव विष्णु का गुणगान करते हैं और वैष्णव भक्तों को वरदान देते हैं[5]। विष्णुलोक को शिवलोक से ऊँचा माना गया है[6]। विष्णु का इस प्रकार शिव से अधिक उत्कर्ष करने की प्रक्रिया में शैव-कथाओं पर भी वैष्णव रंग चढ़ा दिया गया है। उदाहरणार्थ 'ब्रह्मवैवर्त' पुराण में गंगावतरण की कथा में भगीरथ को विष्णुभक्त कहा गया है, और वह कृष्ण की उपासना करते हैं। कृष्ण की ही प्रार्थना पर गंगा पृथ्वी पर उतरने को राजी हुई[7]। 'गणेश-जन्म' की कथा में भी[8] शिव और पार्वती पुत्र-प्राप्ति का वर पाने के लिए विष्णु की आराधना करते हैं और स्वयं गणेश को भी विष्णु का ही अवतार मात्र कहा गया है।

पुराण-ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी संदर्भ हैं, जहाँ वैष्णव और शैव मतों का यह सांप्रदायिक भेद कुछ अधिक उग्र रूप धारण करता हुआ दिखाई देता है। इसमें शैव मतावलम्बी ही अग्रसर रहे प्रतीत होते हैं; क्योंकि शैव पुराणों में ही यह सांप्रदायिक असहिष्णुता अधिक मात्रा में दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, 'मत्स्य पुराण' में कहा गया है कि विष्णु की माया से

---

१. सौर० : ४१, १४५ और आगे।
२. ब्रह्म० : अध्याय ३३।
३. लिंग० : भाग १, २१, ४५, ६१ इत्यादि।
४. ब्रह्मवै० : ३, ६।
५. ,, : भाग १, अध्याय १२।
६. ,, : भाग २, अध्याय २।
७. ,, : भाग २, अध्याय १०।
८. ,, : भाग ३, अध्याय ७-६।

विमोहित अज्ञानी जन ही भृगुतीर्थ की महिमा को नहीं जानते, जो शिव को प्रिय है[१]। 'वायु पुराण' में दक्ष-यज्ञ के प्रसंग में दक्ष अपने-आपको विष्णुभक्त और शिवद्रोही बताते हैं[२]। परन्तु 'सौर पुराण' में हम प्रथम बार शैव और वैष्णव मतों के बीच स्पष्ट विरोध के चिह्न पाते हैं। सौर पुराण उतना ही शिवपक्षी है, जितना कि 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' विष्णुपक्षी है। इस पुराण में समस्त अशैवों की निन्दा की गई है कि वे यम के अधिकार में हैं, और शैव यम के अधिकार से परे हैं[३]। इस पुराण में और 'लिंग पुराण' में अशैवों के प्रति असहिष्णुता की झलक भी दिखाई देती है। इन दोनों में ही उपमन्यु की कथा के प्रसंग में सच्चे शैव को शिव की निन्दा करनेवालों को मार डालने का आदेश दिया गया है[४]। यदि किसी राजा के राज्य में कोई पाखण्डी भी शिव की निन्दा करता है तो उसके सारे पूर्वज घोर नरक की यातना भोगते हैं[५]। इस प्रकार की मनोवृत्ति रखनेवाले कट्टरपंथी लोग यदि वैष्णवमत के प्रति द्वेष रखते हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। 'सौर पुराण' में एक ऐसा ही शिव-भक्त कहता है कि विष्णु की माया से विमोहित मूढ़जन उस शिव की महिमा को नहीं पहचानते, जिससे ब्रह्मा और विष्णु समेत सब देवताओं की उत्पत्ति हुई है[६]। शिव और विष्णु की समता की बात कहना सरासर विधर्म है; क्योंकि भगवान् शिव के अनुग्रह ही से तो विष्णु ने वैकुण्ठ का आधिपत्य पाया था[७]। जो शिव और विष्णु की समता की चर्चा भी करता है, वह असंख्य युगों तक गन्दगी में रेंगनेवाले कीड़े के रूप में जन्म लेता है और जो शिव को विष्णु से हीन मानता है, वह तो साक्षात् चाण्डाल है, जन्म से न सही; परन्तु कर्म से जो कि उससे भी बहुत बुरा है[८]। शैव और वैष्णव मतों का इस परस्पर द्वेष का सबसे स्पष्ट उदाहरण राजा 'प्रतर्दन' की कथा है[९]। यह राजा एक सच्चा शिव-भक्त था और इसकी सारी प्रजा भी शैव थी। इन सबके सदाचार के फल-स्वरूप इनके पूर्वज भी तर गये, नरक शीघ्र ही खाली हो गया और यम के जिम्मे कोई काम करने को न रह गया। ऐसी हालत देखकर इन्द्र ने एक 'किन्नर' को राजा 'प्रतर्दन' की प्रजा में 'विधर्म' फैलाने के लिए भेजा। यह किन्नर 'प्रतर्दन' की प्रजा में आकर उन्हें विष्णु की उपासना की ओर प्रेरित करने लगा और अपने इस दुष्प्रयत्न में यहाँ तक सफल हुआ कि राज-सभा तक में कुछ लोग उसके दूषित प्रचार से प्रभावित हो गये। उसने स्वयं राजा के सामने अपने तर्क प्रस्तुत किये और शिवोपासना की निन्दा तथा विष्णु की उपासना की प्रशंसा की।

---

१. मत्स्य० : १९३, ५६।
२. वायु० : ३०, ८१ और आगे।
३. सौर० : ६४, ४४।
४. ,, : ३६, ३३। लिंग० भाग १, अध्याय १०७।
५. ,, : ३८, ६४।
६. ,, : ३८, १६।
७. ,, : ३८, ६६।
८. ,, : ४०, १६-१७।
९. ,, : ३८, ६४।

राजा अत्यन्त क्रुद्ध हुआ; परन्तु उसने बड़ी क्षमाशीलता से काम लिया और इस समस्या पर निर्णय देने के लिए एक धर्म-सभा बुलाई। परन्तु उसी समय सम्भवतः इन्द्र का आदेश पाकर—कलि आमंत्रित सदस्यों की बुद्धि में प्रवेश कर गया, जिसके फलस्वरूप सभा में खलबली मच गई और कोई निर्णय न हो सका। इसका फल यह हुआ कि अनेक लोग नास्तिक हो गये। राजा ने अभी तक 'किन्नर' की दुष्टता को नहीं जाना, और वह मन में बहुत दुखी हो गये। इस बीच जो लोग सद्धर्म के पथ से डिग गये थे, उनके पूर्वज स्वर्ग-च्युत हो गये। संयोगवश विष्णु अपनी महानिद्रा से जागे और अपने मुख से शिव की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा की। अन्त में देवताओं ने भगवान् शिव को सारी परिस्थितियों से अवगत कराया और तब शिव ने राजा 'प्रतर्दन' को सच्चा ज्ञान दिया और जो इस महा अनर्थ के दोषी थे, उनको दण्ड देने की अनुमति दी। तब राजा ने किन्नर और उसके अनुयायियों को प्राण-दंड दिया। शैवों और वैष्णवों की पारस्परिक सद्भावना से दूर होने पर भी इस कथा से उन कट्टरपंथियों की मनोवृत्ति का स्पष्ट पता चलता है, जिनके द्वारा इस साम्प्रदायिक द्वन्द्व का सूत्रपात हुआ और इसके फलस्वरूप हो सकता है, इनमें कहीं-कहीं संघर्ष भी हुआ हो। इस संघर्ष का एक संकेत हमें 'उषा-अनिरुद्ध' की कथा में मिलता है जो पहली बार महाभारत में दी गई है[1]। पुराणकारों ने इस कथा का प्रयोग शिव के ऊपर विष्णु का उत्कर्ष प्रकट करने के लिए किया। विष्णु और ब्रह्माण्ड पुराणों में यह कथा लगभग एक ही तरह से कही गई है[2]। 'ऊषा' का पिता 'बाणासुर' परम शिव-भक्त था, और जब उसे कृष्ण के विरुद्ध लड़ना पड़ा तो भगवान् शिव उसकी सहायता के लिए आये और कृष्ण और बाण का युद्ध विष्णु और शिव के महासंघर्ष में परिणत हो गया। अन्त में शिव की पराजय हुई और उन्होंने विष्णु से 'बाणासुर' को क्षमा कर देने के लिए विनती की; क्योंकि बाण उनका सच्चा और परम भक्त था। जिस रूप में यह कथा अब पाई जाती है, उसका अन्त विष्णु के इस मित्रतापूर्ण कथन से होता है कि वह और शिव तो वास्तव में अभिन्न हैं। इस प्रकार इस कथा को उस समय प्रचलित धार्मिक भावनाओं के अनुकूल बना लिया गया है। परन्तु इसकी मुख्य कथा में हमें शैव और वैष्णव मतावलम्बियों के परस्पर संघर्ष का आभास मिलता है, जिसमें वैष्णवों ने अपने-आपको विजयी बताया। इसके विपरीत शैवों ने नृसिंह और शरभ अवतारों के रूप में विष्णु और शिव के युद्ध की कथा का विकास किया, जिसमें शिव विष्णु पर विजय पाते हैं। यह कथा 'लिंग पुराण' में दी गई है[3]।

वैष्णव मत को छोड़कर अन्य मतों के प्रति शैवों का क्या रवैया था, इस विषय में पुराणों से हमें बहुत-कुछ पता नहीं चलता। जहाँ-तहाँ अशैवों की निन्दा की गई है और शिव-निन्दकों के प्रति असहिष्णुता प्रकट की गई है, वह प्रसंग हम ऊपर देख ही चुके हैं। इसके अतिरिक्त सौर पुराण में उन लोगों की गणना भी की गई है, जिनको शैव

१. महाभारत : सभा० ४०, २४-२६।
२. विष्णु० : भाग ५, अध्याय ३३; ब्रह्माण्ड० भाग १, अध्याय २०४।
३. लिंग० : भाग १, अध्याय ९५-९६।

विधर्मी मानते थे[१]। इनमें 'चार्वाक,' कौल, कापालिक, बौद्ध और जैन भी गिनाये गये हैं। इन मतों के साथ शैवमत का भेद वैष्णवमत की अपेक्षा बहुत अधिक गहरा और मौलिक था। वैष्णव मत तो फिर भी उसी सनातन ब्राह्मण-धर्म का एक अंग था, जिसका एक अंग स्वयं शैवमत था। दोनों एक ही वैदिक धर्म पर आधारित थे और दोनों वेदों को ही श्रुति मानते थे। परन्तु यह अन्य मत तो ब्राह्मण-धर्म के आधार को ही नहीं मानते थे। अतः इनमें और ब्राह्मण धर्म में संघर्ष पैदा होना अप्रत्याशित नहीं था तथा अचम्भे की बात तो यह है कि पुराणों के समय तक हमें इस संघर्ष का कोई स्पष्ट संकेत मिलता ही नहीं। साधारण रूप से धार्मिक सहिष्णुता की जो भावना हमें अशोक के शिलालेखों में दिखाई देती है, वही सदियों तक हमारे धार्मिक जीवन का एक प्रमुख और आवश्यक अंग रही। भास, अश्वघोष, शूद्रक, कालिदास तथा अन्य लेखकों की कृतियों से इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जब पुराण-काल में संगठित संप्रदायों की उत्पत्ति हुई, तभी से इस सांप्रदायिक संघर्ष की नींव भी पड़ी। साथ ही यह कहना पड़ता है कि इस साम्प्रदायिक संघर्ष में शैवमत सदा आगे रहा। बौद्ध और जैन मतों के विरुद्ध ब्राह्मण-धर्म की रक्षा करने का बीड़ा अपने सिर उठाकर शैव लोग बड़े उत्साह से इन मतों के सिद्धान्तों का खण्डन करने में लग गये। 'सौर पुराण' में कहा गया है कि इन मतों के सिद्धान्तों के प्रभाव से लोग वेद के सन्मार्ग से भ्रष्ट हो जाते थे और अज्ञान में पड़ जाते थे। अतः शैव राजा का कर्तव्य था कि वह बौद्धों और जैनियों तथा अन्य सब विधर्मियों को अपने राज्य में न आने दे। नास्तिकों आदि का तो इस देश में कभी भी कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ; परन्तु बौद्ध और जैन मतों के विरुद्ध शैवों ने जो निरन्तर युद्ध किया, वह पुराणोत्तर काल में शैव मत के इतिहास का एक प्रमुख लक्षण है। इसी के फलस्वरूप बौद्ध मत तो इस देश में लुप्तप्राय हो गया और जैन मत की, ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी बन कर खड़े होने की, शक्ति नष्ट हो गई। इस संघर्ष का कुछ परिचय हम अगले अध्याय में पायेंगे। परन्तु 'पुराण ग्रन्थ' साधारण रूप से पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य की परिपाटी का अनुसरण करते हैं, और ब्राह्मधर्म के सिवा जिन अन्य धर्मों का उस समय देश में प्रचार था, उनके विषय में कोई चर्चा ही नहीं करते।

---

१. सौर० : ३८, ५४।

षष्ठ अध्याय

पिछले अध्याय में हमने देखा है कि पुराणों के समय तक शैवमत पूर्ण विकसित और संगठित हो चुका था तथा वेदोत्तर ब्राह्मण धर्म के दो प्रमुख मतों में से एक बन गया था। इसका प्रचार भी समस्त भारत में था। जहाँ तक शैवमत के स्वरूप का प्रश्न है, उसका विकास अब समाप्त हो गया था। उस समय से आज तक सारांशतः उसका स्वरूप वही रहा है, जो पुराण काल में था। केवल उसके दार्शनिक पक्ष का विकास होता रहा और वह पुराणोत्तर काल में ही जाकर अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँचा। इसको छोड़कर जो कुछ भी और नवीनता हमें दिखाई देती है, वह शैवमत के उपासना-विधि के कुछ बाह्य रूपों में तथा शैवमत के अन्य मतों के साथ सम्बन्धों में ही दिखाई देती है। पुराणोत्तर काल में अगर कोई नई बात हुई, तो वह थी—शैवमत के अन्दर ही विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति। यह प्रक्रिया प्रत्येक धर्म में उसके सुस्थापित हो जाने के बाद, अनिवार्य रूप से होती है। परन्तु यह सब-कुछ भी ईसा की तेरहवीं सदी तक हो चुका था और उसके बाद शैवमत में कोई कहने योग्य नया विकास नहीं हुआ। अतः तेरहवीं सदी तक पहुँचकर ही हम अपने इस दिग्दर्शन को समाप्त कर देंगे।

ईसा की छठी शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक के काल को हम पुराणोत्तर काल कह सकते हैं। इस काल में जो सामग्री हमें उपलब्ध है, वह कुछ पुरातात्त्विक है और कुछ साहित्यिक। पुरातात्त्विक सामग्री में सबसे पहले तो शिला-लेख हैं। फिर इस काल के अनेक मन्दिर और भगवान् शिव की प्रतिमाएँ हैं। दूसरे अभिलेखों से जो बातें हमें पता चलती हैं, ये मन्दिर और प्रतिमाएँ उनके उदाहरण स्वरूप हैं, अथवा उनकी पुष्टि करते हैं। साहित्यिक अभिलेखों में सर्वप्रथम तो अनेक धार्मिक ग्रन्थ हैं, जिनका शैवमत से सीधा सम्बन्ध है और जो अधिकतर दक्षिण में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस समय के प्रचुर लौकिक साहित्य से भी हमें पर्याप्त मात्रा में ऐसी प्रासंगिक बातें ज्ञात होती हैं, जो इन धार्मिक ग्रन्थों से उपलब्ध शैव धर्म-सम्बन्धी हमारे ज्ञान की पुष्टि अथवा पूर्ति करती हैं। अतः इस काल में शैवमत का क्या स्वरूप रहा और इसमें क्या विकास हुआ, इसका हमें खासा अच्छा ज्ञान हो जाता है।

इस काल में शैवमत के विषय में सबसे प्रमुख बात यह है कि उत्तर और दक्षिण में इसके दो सुस्पष्ट रूप हो गये। यह एक व्यावहारिक ज्ञान की बात है कि किसी भी धर्म के स्वरूप पर उसके अनुयायियों की प्रकृति और स्वभाव का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। एक ही धर्म दो विभिन्न प्रकृति और स्वभाव के लोगों में फैलने पर विभिन्न रूप धारण कर लेता है। अतः शैवधर्म जब दक्षिण भारत में फैला, तब वहाँ भी यही हुआ। पुराणोत्तर काल में प्रथम बार जब यह दक्षिण में अपने विकसित और संघटित रूप में दिखाई पड़ता है तब उत्तर भारत के शैवमत के स्वरूप से भिन्न इसका एक निश्चित स्वरूप बन गया था। अतः यही ठीक होगा कि इन दोनों का अलग-अलग निरीक्षण किया जाय।

उत्तर भारत में पुराण-ग्रन्थों द्वारा शैव मत का स्वरूप और उसकी प्रकृति दोनों ही निर्धारित कर दिये गये थे। यहाँ पुराणोत्तर काल में सबसे पहले हमें उत्तरकालीन गुप्तवंशीय राजाओं तथा उनके उत्तराधिकारी नरेशों के शिलालेख मिलते हैं। उनमें शैवमत का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह सारांशतः पौराणिक ही है। छठी शताब्दी के राजा 'यशोधर्मा' के शिलालेख का हम ऊपर उल्लेख कर ही चुके हैं। सातवीं शताब्दी में राजा 'आदित्यसेन' के 'अपसाद-शिलालेख' में कार्तिकेय का उल्लेख किया गया है और उसको शिव का वास्तविक पुत्र माना गया है। इससे पता चलता है कि स्कन्द-जन्म की मूलकथा इस समय तक विस्मृतप्राय हो चुकी थी[1]। सातवीं शताब्दी में ही राजा 'अनन्तवर्मा' का नागार्जुन पर्वत का गुफालेख है। इसमें शिव और पार्वती की प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, जिनका उस राजा ने इस स्थान पर प्रतिष्ठापन किया था[2]। उसी स्थान पर इसी राजा के एक दूसरे शिलालेख में देवी द्वारा महिषासुर के वध की कथा की ओर संकेत किया गया है, और देवी की कल्पना यहाँ उनके उग्र रूप में की गई है[3]। इस देवी को पार्वती से अभिन्न माना गया है। इसका कोई नाम यहाँ नहीं दिया गया; परन्तु राजा के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने इन्हीं गुफाओं में कात्यायनी की एक मूर्त्ति का प्रतिष्ठापन किया था और एक गाँव भवानी को समर्पित किया था। सातवीं शताब्दी के ही महाराज 'प्रवरसेन' द्वितीय के दो लेख भी मिले हैं—एक 'छम्मक' का ताम्रपत्र और दूसरा 'सिवानी' का शिलालेख। इन दोनों में 'भारशिव' नाम के एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुयायी शिवलिंग को सम्मान-पूर्वक अपने कन्धों पर लेकर चलते थे[4]। उस समय यह सम्प्रदाय काफी महत्त्व रखता होगा; क्योंकि उनके गुरु 'भावनाग' को 'महाराजा' की उपाधि दी गई है। उनका गंगाजल से अभिषेक किया जाता था। स्मरण रहे कि त्रिपुरदाह की कथा के पौराणिक संस्करणों में से एक में बाणासुर को इसी प्रकार मस्तक पर शिव-लिंग उठाये अपने दुर्ग से बाहर निकलते हुए बताया गया है। अतः यह सम्भव है कि इस कथा में एक वास्तविक प्रथा की ओर संकेत हो, और 'भारशिव' सम्प्रदाय का जन्म पौराणिक काल में ही हो गया हो। आगे चल कर हम इस सम्प्रदाय को एक नये रूप में और नये नाम से अभिहित पायेंगे।

सातवीं शताब्दी के शिलालेखों से हमें यह भी पता चलता है कि अभी तक विभिन्न मतों में साधारण रूप से परस्पर सहिष्णुता का भाव था। पिछले अध्याय के आरम्भ में हमने देखा था कि गुप्तवंश के राजा यद्यपि स्वयं वैष्णव थे, फिर भी वे अन्य मतों का संरक्षण करते थे और उनको यथोचित सहायता भी देते थे। इन मतों में शैवमत भी शामिल था। इनके उत्तरवर्ती राजाओं ने भी साधारणतया ऐसी ही सहिष्णुता दिखाई। इस समय के शिलालेखों में भी प्रायः जहाँ एक देवता की स्तुति की जाती है, वहाँ अन्य

---

१. C. I. I. : भाग ३ प्लेट २८, पृष्ठ २००।
२. ,, : ,, ,, ३१ ,, २२३-२६।
३. ,, : ,, ,, ३१ ,, २२३-२६।
४. ,, : ,, ,, ३४ ,, २३५।

देवताओं का स्तवन तथा प्रशंसा हो जाती है। उदाहरण के लिए ५४५ ईस्वी के राजा 'हरिवर्मा' के 'साँगलोई' वाले ताम्रपत्रों में—यद्यपि दानकर्त्ता शैव है और शिव को ही सर्वश्रेष्ठ देवता मानकर उनकी स्तुति करता है, तथापि—उसने शिव, विष्णु और ब्रह्मा तीनों को प्रणाम किया है [१]। अनेक दूसरे शिलालेखों में भी हम यही पाते हैं। इसी समय के दो अन्य शिलालेखों में 'मातृकाओं' का उल्लेख किया गया है। इनकी जनसाधारण में उपासना होती थी, यह हम 'मृच्छकटिक' नाटक में पहले ही देख आये हैं। ये मातृकाएँ उनकी मातृकाओं से भिन्न हैं, जिनका पुराणों में उल्लेख हुआ है और जो उग्ररूपधारिणी तथा शिव अथवा पार्वती के उग्र रूपों में उनकी सहचरी हैं। यहाँ इन मातृकाओं को माताएँ माना गया है। जहाँ तक विदित होता है, इनका स्वभाव सौम्य और मंगलकारी था तथा समृद्धि और सुख-प्राप्ति के लिए इनकी पूजा की जाती थी [२]। स्कन्दगुप्त के बिहार-शिलालेख में इनका सम्बन्ध कार्तिकेय से किया गया है। इससे यह सम्भावना होती है कि यह मातृकाएँ शिशु स्कन्द को पाने और पालने वाली कृत्तिकाएँ ही तो नहीं हैं, जिनका स्कन्द-जन्म की कथाओं में उल्लेख हुआ है। परन्तु इस विषय में निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहना कठिन है।

इन शिलालेखों से हमें तत्कालीन उपासना विधि के विषय में भी कुछ ज्ञान होता है। सभी मतों के अपने-अपने मन्दिर थे, जहाँ नियमित रूप से पुजारी रहते थे। प्रायः सभी शिलालेख ऐसे ही मन्दिरों को बनवाने, उनमें देवमूर्त्तियों के प्रतिष्ठापन कराने और इन मन्दिरों के खर्च तथा उनके पुजारियों के निर्वाह के लिए दिये गये दान की व्यवस्था कराने का उल्लेख करते हैं। यह मन्दिर तत्कालीन धार्मिक जीवन के केन्द्र बन गये थे और इन मन्दिरों के पुजारी विशेष त्योहारों पर जनता की पुरोहिताई भी करने लगे थे।

छठी और सातवीं शताब्दी के शिलालेखों से जो कुछ हमें पता चलता है, तत्कालीन साहित्यिक सामग्री से उसकी पुष्टि होती है। इस सामग्री में 'दण्डी' और 'बाणभट्ट' के गद्य-काव्य सबसे अधिक महत्त्व के हैं। दण्डी छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए थे और उनके 'दशकुमार-चरित' से उस समय की धार्मिक स्थिति का भली प्रकार पता चल जाता है। जहाँ तक शैव मत का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ में देश के विभिन्न भागों में अनेक शैव मन्दिरों का उल्लेख किया गया है। उनमें जिस प्रकार पूजा आदि होती थी, वह बिलकुल पौराणिक ढंग की थी। कुछ शैव मन्दिर तो बड़े प्रसिद्ध हो गये थे और दूर-दूर से लोग उनके दर्शनार्थ आते थे [३]। साम्प्रदायिक विद्वेष का कोई संकेत हमें इस ग्रंथ में नहीं मिलता। केवल जैनों का, दण्डी ने कहीं-कहीं उपहासपूर्वक, उल्लेख किया है [४]।

महाकवि 'बाणभट्ट' के दो गद्यकाव्य हमें उपलब्ध हैं। एक 'हर्ष-चरित' और

---

१. हरिवर्मा के सांगलोई ताम्रपत्र E. I. १, १४, पृष्ठ १६६।

२. स्वामी भट्ट का देवगढ़ शिलालेख १, १८, पृष्ठ १२६।

३. उदाहरणार्थ काशी में 'अविमुक्तेश्वर' (उच्छ्वास ४) और श्रावस्ती में 'त्र्यम्बकेश्वर' (उच्छ्वास ५)

४. उदाहरणार्थ उच्छ्वास—२।